साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति

साहित्य शिक्षा एवं संस्कृति

आचार्य नरेन्द्रदेव

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-६

अनुक्रम

खण्ड ३

शिक्षा

खण्ड ४

संस्कृति

भूमिका

आचार्य नरेन्द्र देव जन्मशती वर्ष में उनकी ज्ञानवारि से सींची संस्था काशी विद्यापीठ की ओर से उनकी स्मृति को अर्घ्य अर्पण करने की हमें कोई दूसरी सामग्री उपयुक्त नही लगी। 'विद्यापीठ पत्रिका' में छपी उनकी टिप्पणियाँ चुनी गयी। कुछ और पत्र-पत्रिकाओं में छपे वक्तव्य चुने गये, कुछ रेडियो वार्त्तायें चुनी गयी इनमें से कुछ आलेख भाई कमलापति मिश्र की कृपा से आचार्य जी की स्वलिपि में मिल गये। 'साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति' शीर्षक से यह संकलन हमारे योग्य सहयोगियों — श्री कृष्णनाथ और श्री रमेशचन्द्र तिवारी ने बड़े परिश्रम से तैयार किया। इसमें चार खण्ड बनाये गये। पहले खण्ड में आचार्यजी के वे निबन्ध रखे गये जो उनके जीवन-दर्शन की पीठिका तैयार करते हैं, शेष खण्डों में साहित्य, सस्कृति और शिक्षा के क्षेत्रों में उनके अपने अनुभव और मन्तव्य संकलित हैं। मैंने यह पूरी सामग्री पढ़ी और ग्रन्थाकार रूप में प्रकाशित 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' एव 'बौद्ध धर्म दर्शन' जैसी रचनाएँ पढ़ी। इनसे जो छवि उभरी उसका मूर्त्त आकार भी स्मरण किया, जब वे बोलने उठते थे और उखड़ी हुई साँसों से प्राण फूँक देते थे तो मन में बड़ी लज्जा हुई कि शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में इतने बड़े तपस्वी और इतने बड़े मर्मज्ञ विचारक का हमने ठीक तरह से मूल्यांकन नहीं किया। एक संयोग ने उन्हें राजनीति के गलियारे में ढकेला, एक के बाद दूसरे सयोगों ने उन्हें असहमति की राजनीति में नेतृत्व सँभालने को लाचार किया। वे स्वयं कभी भी नेतृत्व के लिए आगे नहीं आते थे। इसीलिये उनके विचारक पक्ष का जो महत्त्व उनके जीवनकाल मे उनकी उपस्थिति में लोग अनुभव करते थे, वह महत्त्व भूल गये। भाषा और भाव के संयोजन का जो कौशल उनकी वक्तृता और लेखनी में था, वह कौशल भी काशी विद्यापीठ जैसी उन्ही की रचना जैसी संस्था मे नही सिखाया जाता रहा। आज की अपसंस्कृतिग्रस्त परिस्थिति में यदि आचार्य जी की उन चेतावनियों पर ध्यान दिया गया होता जो उन्होंने स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद दी थीं और उस संस्कृति और समाज की रचना के लिए संकल्प लिया गया होता, जिसको उन्होंने वैचारिक आधार दिया था तो हमें अपने भीतर यह खोखला-

पन महसूस नहीं होता जो अब हो रहा है।

आचार्यजी मसीहा या पैगम्बर नहीं थे। पथ-प्रदर्शक या पथ-निर्माता होने का कोई दावा भी वे नही करते थे। अपने जीवन में अन्तर्द्वन्द से गुजरे—चाहे वह इस देश की आध्यात्मिक विचारधारा और भौतिकवादी मार्क्सवाद के बीच रहा हो, चाहे व्यक्ति की गरिमा और समाज के हित के बीच रहा हो, चाहे राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व के बीच रहा हो, चाहे मनुष्य की भौतिक और चैतसिक अपेक्षाओ के बीच रहा हो, वे अतिरेकों के बीच से राह निकालते रहे। वे समझौतावादी नही थे, समझौतावादी होते तो राजनीति में सत्ता के शिखर पर पहुँचे होते। अपने आदर्शो मे बड़ी दृढ़ निष्ठा रखते थे। वे व्यक्तिपूजक नही थे, पर वे शील के प्रतिमान थे। स्व० डा० राजेन्द्रप्रसाद को अजातशत्रु कहा जाय तो आचार्यजी को सर्वमित्र कहना चाहिए, नयी-पुरानी पीढी के सभी लोगों के मित्र। जो भी उनके सम्पर्क में आये, फिर वे किसी भी क्षेत्र के क्यों न हों, उनके मित्र थे। और वैचारिक मतभेद भी हुआ तो भी वे मैत्री निभाते रहे। आचार्यजी में वास्तविकता पहचानने की अद्‌भुत शक्ति थी, जैसे सहजात अन्तःप्रेरणा रही हो और वह अन्तःप्रेरणा उनके सीधे-सरल और शुचि जीवन में और निखर गयी हो। वे देख सकते थे, किधर क्या जोखिम है, किसमें क्या खामी है, किसमे क्या सम्भावना है और किन स्थितियो मे उस सम्भावना के विकास के कौन से आयाम हैं। इसलिए वे बड़ी संयत, शालीन और सहज भाषा में यह प्रतिपादन कर सकते थे कि संस्कृति मानव चित्त की खेती है, मानव चित्त में निरन्तर गुड़ाई की आवश्यकता है, नही तो उसके अनुर्वर होने की आशंका हो जाती है। और इसके लिए एक बड़े मन की जरूरत है जो स्वीकारी तो हो, पर पराधीन न हो।

आचार्यजी प्रत्येक विचारधारा की गहराई मे जाते थे और अपनी जमीन मे उसके उपयोग की सीमाओं का परिमापन भी करते थे। वे हर प्रकार की मतान्धता के विरोधी थे। इससे बड़े साहस के साथ, पर उतनी ही विनम्रता के साथ अपनी स्थापनायें रख सकते थे। आज ऐसी विनम्र निर्भीकता इतनी विरल है कि कुछ टिप्पणी करने की आवश्यकता नही। मैं आचार्यजी के अनेक विचारो से अपने को असहमत पाते हुए भी उनकी बौद्धिक प्रखरता और ईमानदारी के आगे सलज्ज भाव से प्रणत हूँ·· काश, हम अपने अनुभव को ऐसी सत्य-दृष्टि दे पाते।

आचार्यजी की विचार-यात्रा को समझने के लिए उनकी जमीन को जानना होगा। वे उपनिषद्-गीता का अभ्यास करने वाले पिता की सन्तान थे। फिर वे काशी में गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज मे संस्कृत वाङ्मय और पुरातत्त्व पढ़ने आये। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज उनके सहपाठी थे, ऐसे अभिन्न सहपाठी कि जब कविराज जी पढ़ाई के समय बीमार पडे तो उनकी सेवा-सुश्रूषा और

उनकी तैयारी कराने में आचार्यजी ने अपनी श्रेणी गंवाई, पर अपने बन्धु को प्रथम श्रेणी ही दिलायी। बाद में वे गरम दल की राजनीति की ओर आकृष्ट हुए, फिर मार्क्सवादी चिन्तन की ओर। भारत में जिन लोगों ने समाजवादी चिन्तन की नीव डाली उनमें वे अग्रणी हुए। दूसरी ओर बौद्ध करुणा ने उन्हें आकृष्ट किया और बौद्ध वाङ्मय के परिशीलन में लगे। वे एक ओर लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के व्यक्तित्वों की ओर आकृष्ट हुए तो दूसरी ओर राजर्षि टण्डन और पण्डित नेहरू की मैत्री के स्नेहपाश में बँध गये। इन तमाम परस्पर विरोधी-सी स्थितियों के बीच जिसके मानवीय संस्कार निखरे, उसमें अद्वितीयता होगी। अन्तर्विरोधों की पहचान उन्होंने विरोध के रूप मे न करके एक-दूसरे के पूरक के रूप में की, मानवीय प्रकृति की विविधता के रूप में की। उन्होंने स्वयं कहा है— "भारतीय धर्म का उदार भाव कभी-कभी दुर्बल हो जाता है, किन्तु इसमें सन्देह नही कि बार-बार प्रताड़ित होने पर भी नष्ट नहीं होता। पण्डितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी में तथा तीर्थों में यह भाव नहीं मिलेगा। यदि इसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणो के खेतों और खलिहानों में इसे ढूँढ़िये। यही उदार भाव सब प्राणियो मे अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखने के लिए विवश करता है। यही ममत्व का योग है। यही उपनिषदों की शिक्षा है। इसीलिए कहा गया है कि वह स्वराज्य का अधिगम करता है।"

इस विशाल देश में विविधता में एकता की इतनी सम्भावना देखते हुए भी वे इसकी वर्तमान परिस्थिति मे एक बहुत बड़ी कमी देखते है। वे यह अनुभव करते है कि हमारा समाज है बहुत्व प्रधान, पर आर्थिक-सामाजिक स्तरों पर इसमें साम्य की अपेक्षा है और इस साम्य को लाने में हमारे विशाल धर्म की भूमिका उतनी सक्रिय न होगी। उन्होंने इसी लेख मे आगे कहा—"जब तक सबके लिए कुछ ऐसे प्रतीक और उद्देश्य न हों, जो समान है तब तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के बीच होने वाले भीषण संघर्ष आज के युग में बड़े भीषण होंगे।...जब धर्म के क्षेत्र मे जीवन के विविध अंग बहिष्कृत हो रहे है तब धर्म या सम्प्रदाय का विचार न करके सबके लिए एक ही कानून बनना चाहिए।" उनकी दृष्टि मे विशाल धर्म की भूमिका आज भी महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि वह ऐसी सर्वप्रभावी भूमि तैयार कर सकती है, क्योंकि उसमें स्वयं को युग की आकांक्षाओं के अनुरूप अतिक्रमण करने का साहस है, परन्तु बहुत्वप्रधान समाज की विडम्बनाओं का समाधान हमें समान सेक्यूलर आचार के निर्धारण द्वारा करना होगा। यही आचार्यजी की दृष्टि में नयी संस्कृति की सबसे बड़ी नैतिक अपेक्षा है।

आचार्यजी इस संस्कृति की अवतारणा के लिए कानून के साथ-साथ जन-शिक्षा को भी आवश्यक मानते हैं। 'जनशिक्षा' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने सतही प्रौढ साक्षरता के अभियान पर बड़ी गहरी चोट करते हुए कहा—"साक्षर हो

जाने पर कोई व्यक्ति साधारण किस्से-कहानियाँ पढ़ सकता है, किन्तु वह शिक्षित नहीं हो सकता और न अपने व्यवहारों को सामाजिक और विवेकयुक्त ही कर सकता है। ऐसी (सतही) साक्षरता से व्यावसायिक वर्ग अनुचित लाभ उठाते हैं और मुनाफा कमाने के लिए ढेर के ढेर ऐसे सस्ते और भद्दे साहित्य को प्रकाशित करते हैं जिनसे केवल मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार के पुस्तक व्यवहार से, जिसकी आजकल धूम है, जनता शिक्षित नहीं होती, बल्कि पथभ्रष्ट होती है। केवल साक्षर समाज से भी काफी खतरा है और आसानी से वह अधिनायकों और अधिकाराकांक्षियों के जाल में फँस सकता है।...समाज के प्रवचक अपने संकुचित राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए प्रचार के ऐसे हथकण्डों का उपयोग करते हैं जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के (और नये सन्दर्भ में विभिन्न समुदायों के) बीच घृणा और द्वेष उत्पन्न करते हैं।" आचार्यजी ने व्यावसायिकता के खतरों से बचने के लिए सरकार से अपेक्षा की—"वह जनता को ऐसी मौलिक शिक्षा प्रदान करे जिससे उसके अन्दर विवेचनात्मक शक्ति का विकास हो और उसमें आत्मनिर्माण की क्षमता आ सके।" प्रौढ़ साक्षरता अभियान में यह मुद्दा आज कितना महत्त्वपूर्ण है, इस पर विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

आचार्यजी आजीवन शिक्षक रहे और वे शिक्षार्थी समुदाय की आकांक्षाओं का स्पन्दन निरन्तर अपने भीतर अनुभव करते रहे। इसीलिए उनके विचार शिलीभूत नहीं रहे। वे अपने सोचने के ढंग में परिष्कार करते रहे। 'गंगातीरे गंगादास' और 'जमुनातीरे जमुनादास' वाली लोकप्रियता की समझदारी को वे बहुत अनैतिक मानते थे। इसी से उन्हें न शासन से भय था न लोक से। वे दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे, पर दूरगामी लोकहित की बलि देकर नहीं। उनकी राजनीति भी सफलता की राजनीति न होकर सिद्धान्त की राजनीति थी। वे निर्भीक होकर कह सके कि (स्वाधीनता के बाद) देश में निराशा और निरुत्साह का वातावरण छाया हुआ है और लोगों में सामाजिक व राजनीतिक प्रश्नों के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही है। हमारे नवयुवक भी इस उदासीनता के शिकार हो रहे हैं। इस परिस्थिति के अनेक कारण हैं। नवार्जित स्वाधीनता का उल्लास किसी के हृदय में नहीं है और इसीलिए नवीन रचना के लिए उत्साह का भी अत्यन्त अभाव है। 'जनता का आशादीप बुझ रहा है' उनका यह कथन आज भी उतना ही सही है। आज स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के चार दशकों की उपलब्धियों और चिन्ताओं की जब समीक्षा की जा रही हो तो आचार्यजी का स्मरण अपने-आप बहुत सार्थक ढंग से किया जा सकता है। कितने भी अकेले क्यों न दिखते हों पर वे आज भी प्रकाशस्तम्भ हैं। उनकी निराशा की समझ भी आशा का संकल्प है।

आचार्यजी ने जिस नयी संस्कृति की अवधारणा की, उसकी भित्ति मार्क्स-

मात्र नहीं हैं, बुद्ध और कृष्ण भी हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा कि समाजवाद का सवाल केवल रोटी का सवाल नहीं है, समाजवाद मानव-स्वतन्त्रता की कुंजी है। समाजवाद ही एक स्वतन्त्र सुखी समाज में सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है।···सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की सृष्टि तभी हो सकती है जब साधन भी सुन्दर हों, मानवोचित हों'' ('हमारा आदर्श और उद्देश्य')। आचार्यजी इस नवनिर्माण का संकल्प लेते समय अपने सांस्कृतिक दाय के प्रति असावधान नहीं थे, वे भलीभाँति समझते थे कि "इतने दीर्घ काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गये हैं, उन पर जोर देना और उन्हें समाज के पुनर्निर्माण में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है। इनकी अवहेलना करके सभ्य और सुन्दर सामाजिक जीवन नहीं चलाया जा सकता" ('हमारा आदर्श और उद्देश्य')। सादगी में सौष्ठव भारत की अपनी पहचान है। यह पहचान जीवन की सच्चाई की तलाश से आती है और सचाई की तलाश में आदमी को अपने-आप बहुत-सा परिग्रह अलग कर देना होता है। भारतीय मन में रचना की कल्पना बिना तप के सम्भव नहीं होती।

गांधीजी और आचार्यजी में बहुत अन्तर होते हुए भी मिलने का एक सामान्य बिन्दु है। वह है उपभोक्ता भाव से बचते हुए जीवन को अर्पणीय बनाना और अर्पणीय बनाकर सत्य की तलाश में निःस्व और निर्भय होकर चल देना। अभी कुछ ही दिन पहले भाई रामू गांधी (महात्मा गांधी के पौत्र प्रसिद्ध विचारक श्री रामचन्द्र गांधी) से देर तक कुछ बातें गांधीजी के जीवन के सम्बन्ध में होती रहीं। रामू भाई ने कहा, बापू मोहन के दास थे। वे इस युग के अर्जुन थे। अपने को झुलसाकर भी विराट् सत्य का साक्षात्कार करना चाहते थे। अपने को सबके प्रति समर्पित करके ऐसी राह पर चलना चाहते थे जो सबकी राह हो, पर ऐसी हो कि उस पर चलने का अब तक किसी ने साहस न किया हो। आचार्यजी की जीवन-यात्रा भी ऐसी ही कुछ थी। देखने में द्वन्द्व से घिरे हुए पर आचार में स्पष्ट और कठोर निर्णय लेने वाले आचार्यजी गांधीजी की प्रतिमूर्ति थे अपनी शीतल तेजस्विता में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने समय की धारदार तलवार पर प्राण साधे हुए आचार्यजी आजीवन यात्रा करते रहे। न कभी विचलित हुए, न शिथिल। साथ ही कभी वे दम्भी भी नहीं हुए। नयी क्रान्ति के दावेदार नहीं हुए। शायद इसी से लोगों को वे उतने आक्रामक नहीं लगते। परन्तु जब हम उनके विचार और आचार को एक साथ रखकर जाँचते हैं तो लगता है कि इस तरह निरन्तर एक के बाद दूसरी अग्निपरीक्षा में तपकर निकला हुआ सोना कोई दूसरा प्रमाण नहीं माँगता, आग ही उसका प्रमाण है। आचार्यजी के विचार उनके जीवन थे। ऐसे विचारक को आक्रामक होने की जरूरत नहीं पड़ती। वह घिसे हुए चन्दन की

तरह अपनी उपस्थिति जतला देता है। हम वही चन्दन आचार्यजी के आराध्य लोकदेवता को अर्पित कर रहे है। यह कोई बड़ा उल्लेखनीय श्रद्धा-समर्पण नही है। हम उस योग्य हैं भी नही, पर कम से कम आचार्यजी को यह अच्छा लगता, ऐसा जरूर है।

इस संग्रह को तैयार करने में जिन बन्धुओं ने—कृष्णनाथ जी और रमेश जी ने श्रम किया, जिन अन्य बन्धुओं ने— भुवनेशजी, और श्री कमलापति मिश्र ने खुले मन से अंशदान किया और भाई अशोकनाथ जी ने सहज उदारता से इस संग्रह के प्रकाशन का हमें अधिकार दिया, उन सबके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। और अन्त में, अपना विशेष आभार आचार्य जी द्वारा राजनीति में दीक्षित, समाजवादी विचारक माननीय श्री नारायणदत्त तिवारी जी के प्रति अर्पित करते हैं कि उन्होंने हमारे इस समारम्भ को प्रोत्साहन दिया।

काशी विद्यापीठ इसी शृंखला में अपने अन्य निर्माताओं की जन्मशती के आने वाले वर्ष में उनकी रचनाओं के चयन और प्रकाशन का संकल्प कर रहा है। इन निर्माताओं में प्रमुख है: स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू, स्व० श्री सम्पूर्णानन्द और स्व० श्री श्रीप्रकाश। काशी विद्यापीठ की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही स्वाधीन भारत का विचार दर्शन देने की। वह भूमिका आज भी प्रासंगिक है और उसके प्रति सजग रहना हमारा नैतिक दायित्व है। उस दायित्व की पूरी निष्कृति न भी हो सके तो आंशिक निष्कृति ही सही। पर हम यह अनुभव करते हैं कि आज की स्थिति में स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना है और स्वाधीन चेताओं के विचार सामने रखने हैं। इसलिए नही कि उनका अन्धानुसरण करें, बल्कि इसलिए कि स्वतन्त्र विचार की सरणि कैसी होती है और कैसे उसकी चर्चा आज के सन्दर्भ में नयी विचारसरणि के उद्भव में सहायक हो सकती है, इसका अनुसन्धान करें। यह हमारा नैतिक कर्तव्य होता है।

काशी विद्यापीठ —**विद्यानिवास मिश्र**
कार्तिक शुक्ल ८/२०४५ वि०
(आचार्य नरेन्द्र देव जन्मदिवस)

आचार्य नरेन्द्र देव

संक्षिप्त जीवन वृत्त

जन्म : कार्तिक शुक्ल अष्टमी, सम्वत् १९४६ वि०, तदनुसार ३०/३१ अक्टूबर, सन् १८८९ ई०, रात्रि २ बजे, सीतापुर में, पैतृक घर फ़ैजाबाद में।

शिक्षा : एम०ए० (संस्कृत) विशेषीकरण 'एपिग्राफी' (पुरालेख शास्त्र), गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस, १९१३ ई०, एल० एल० बी०, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १९१५ ई०।

वकालत : फैजाबाद में, जुलाई १९१५ में शुरू।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में :

स्वदेशी व्रत : जनवरी, १९०७

होमरूल लीग, फैजाबाद शाखा की स्थापना, १९१६

सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, १९१८

वकालत छोड़कर असहयोग आन्दोलन में शरीक, जनवरी, १९२१

काशी विद्यापीठ में अध्यापन कार्य का प्रारम्भ, जुलाई, १९२१

श्री जयप्रकाश नारायण से भेंट, काशी विद्यापीठ, जनवरी, १९३०

जेलयात्रा : सन् १९३०, १९३२, १९४०, ९ अगस्त, १९४२-'४५

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के स्थापना सम्मेलन, पटना, मई, १९३४ की अध्यक्षता।

प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष, १९३६

कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य, फरवरी, १९३६

सदस्य, कांग्रेस वर्किंग कमेटी, १९४२

गिरफ्तारी, बम्बई, ९ अगस्त, १९४२,

रिहाई, अलमोड़ा से १९४५ में

अध्यापक, आचार्य, कुलपति

काशी विद्यापीठ के अध्यापक, अध्यक्ष, आचार्य, कुलपति; १९२१-'५६

लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति, १९४७-'५१
काशी विश्वविद्यालय के कुलपति, १९५१-'५३

सभितियों की सदस्यता

संयुक्त प्रान्तीय सरकार की माध्यमिक शिक्षा समिति के अध्यक्ष, १९३८
अध्यक्ष, लिपि सुधार समिति
अध्यक्ष, संस्कृत शिक्षा सुधार समिति
सदस्य, जमींदारी उन्मूलन समिति, उत्तरप्रदेश
प्रथम प्रेस कमीशन, भारत सरकार

सदस्य

संयुक्त प्रान्त विधानसभा, १९३७-'३९
उत्तर प्रदेश विधानसभा, १९४६-'४८
विधानसभा की सदस्यता से त्यागपत्र, १९४८
सदस्य, राज्य सभा, १९५२-'५६

अध्यक्षीय भाषण

काँग्रेस सोशलिस्ट कांफरेंस, पटना, मई, १९३४,
प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन, नवम्बर, १९३६
हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समाज परिषद् विभाग का अध्यक्षीय भाषण, अक्टूबर, १९३९
अखिल भारतीय किसान सभा, गया, १९३९
आगरा विश्वविद्यालय का दीक्षान्त भाषण, १९४७
अखिल भारतीय यूनिवर्सिटी टीचर्स कांफरेंस, दिल्ली, १९४८
नव संस्कृति संघ, उद्घाटन भाषण, बनारस, ७ अक्टूबर, १९४८
सोशलिस्ट पार्टी का पटना अधिवेशन, मार्च, १९४९
काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष, मार्च, १९५०
समाज विज्ञान परिषद्
अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् की स्थापना, नवम्बर, १९५१
जनपदीय आन्दोलन, हाथरस, १९५२
काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक जयन्ती के अवसर पर आयोजित सांस्कृतिक सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण, मार्च, १९५३
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् मे अध्यक्षीय भाषण, २१ अप्रैल, १९५४
प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के गया अधिवेशन में प्रस्तुत नीति-वक्तव्य (अनुपस्थिति में) दिसम्बर, १९५५

वेदेश यात्रा

बर्मा और स्याम, फरवरी, १९५०

चीन यात्रा, अप्रैल-मई, १९५२

यूरोप यात्रा, १९५४

देहान्त : १९ फरवरी, १९५६

रचनाएँ :

Socialism and the National Revolution (Bombay, 1946)

राष्ट्रीयता और समाजवाद (ज्ञान मण्डल, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९४९, पुनर्मुद्रित, १९७३)

बौद्ध धर्म दर्शन (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, १९५६, पुनर्मुद्रित, १९७१)

वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश का अनुवाद (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, २ जिल्द प्रकाशित, शेष प्रकाशकाधीन)

Towards Socialist Society (Centre of Applied Politics, New Delhi, 1979)

पैम्फलेट :

समाजवाद : लक्ष्य तथा साधन, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९३८

राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा और भारतीय कम्युनिस्ट, लखनऊ, १९४०

किसानों का सवाल, मार्च, १९४६

मार्क्सवाद और सोशलिस्ट पार्टी, प्रथम संस्करण, जुलाई, १९५१

अध्यक्षीय भाषण, प्रजासोशलिस्ट पार्टी, द्वितीय राष्ट्रीय सम्मेलन, गया, २६ सितम्बर, १९५५

The Indian Struggle—Next Phase, Socialist Tracts no. 2, Bombay.

Draft Thesis for the Fourth Conference of the Congress Socialist Party, 1938 by Narendra Deva et al.

"The Comon Man and the Congress" in : Reorganise the Congress by Socialist Leaders, Congress Socialist Party, Tamilnad, Madras

Draft Policy Statement presented to the Second Annual Conference of the Praja Socialist Party, Gaya, December, 1955.

सम्पादन :

विद्यापीठ पत्रिका (त्रैमासिक, काशी विद्यापीठ,)
संघर्ष (साप्ताहिक, लखनऊ)
समाज (साप्ताहिक, वाराणसी)
जनवाणी (मासिक, वाराणसी)
समाज (त्रैमासिक, वाराणसी)

आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा लिखित निबन्धों की सूची

विद्यापीठ पत्रिका (त्रैमासिक)

बौद्ध संस्कृत साहित्य का इतिहास, **विद्यापीठ** (१, १), पृष्ठ ५२-६६
सोवियत रूस की एशिया नीति, **विद्यापीठ,** (१, ४), पृष्ठ ४५५-७१
बौद्धों का त्रिकायवाद, **विद्यापीठ,** (२, १), पृष्ठ ३१-५०
विद्यार्थियों में स्वावलम्बन का आन्दोलन, **विद्यापीठ,** (२, १), पृष्ठ १०६-१११ (टिप्पणी)
ब्रिटिश मजदूर सरकार और भारत, **विद्यापीठ,** (२, १), पृष्ठ ११४-१२०
मौलिक अधिकार समिति की रिपोर्ट, **विद्यापीठ,** (२, ४), पृष्ठ ४७३-८०
समाधि अर्थात् शमथयान, **विद्यापीठ,** (३, १), पृष्ठ १६-४५
समाधि अर्थात् शमथयान-कसिण निर्देश, **विद्यापीठ,** (४, १)

'जनवाणी' में प्रकाशित लेख-टिप्पणियाँ

"पूँजीवादी समाज और प्रेस", वर्ष १, संख्या १, दिसम्बर, '४६
"पेरिस का शान्ति सम्मेलन", " " "
"जर्मन राजनीति की दिशा", " " "
"आस्ट्रिया", " " "
"हमारा आदर्श और उद्देश्य", " " "
"सत्याग्रह और प्रजातन्त्र", " " "
"मार्क्स और नियतिवाद", वर्ष १, संख्या २, जनवरी, '४७
"ब्रिटिश साम्राज्य रक्षा की प्रस्तावित सैनिक नीति", वर्ष १, संख्या २, जनवरी, '४७
"विद्यार्थियों का राजनीति में स्थान", वर्ष १, संख्या २, जनवरी, '४७
"समाजवादी क्रान्ति की रूपरेखा", वर्ष १, संख्या २, जनवरी, '४७

"प्रजातन्त्र सच्चे समाजवाद का प्राण है", वर्ष १, संख्या ३, फरवरी, '४७
"मिस्र की राजनीतिक पार्टियाँ", वर्ष १, संख्या ३, फरवरी, '४७
"इराक के राजनीतिक दल और उनकी राजनीतिक स्थिति", वर्ष १, संख्या ४, मार्च, '४७
"कांग्रेस किधर", वर्ष १, संख्या ५, अप्रैल, '४७
"हिन्द चीन और कम्युनिस्ट पार्टी", वर्ष १, संख्या ६, मई, '४७
"योग्य शिक्षकों की कमी", वर्ष १, संख्या ७, मई, '४७
"एशियाई सम्मेलन", वर्ष १, संख्या ४, मार्च, '४७
"अमेरिका का नया साम्राज्यवाद", वर्ष २, संख्या १, जून, '४७
"इटली के कम्युनिस्टों की अवसरवादिता", वर्ष २, संख्या १, जून, '४७
"आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी का प्रस्ताव", वर्ष २, संख्या १, जून, '४७
"विचारकों के सम्मुख नयी समस्या", वर्ष २, संख्या २, सितम्बर, '४७
"महात्मा जी को श्रद्धांजलि", (१, २) वर्ष २, संख्या १, मार्च, '४८
"मेरे संस्मरण", वर्ष २, संख्या ३, सितम्बर, '४८
"प्रगतिशील साहित्य", वर्ष २, संख्या ३, अक्टूबर, '४८
"जन शिक्षा", वर्ष २, संख्या ५, दिसम्बर, '४८
"संस्कृत वाङ्मय का महत्त्व और उसकी शिक्षा", वर्ष ३, संख्या ५, फरवरी, '४९
"गाँव पंचायतों की स्वतन्त्रता", वर्ष ३, संख्या ६, नवम्बर, '४९
"विविधता में एकता", वर्ष ४, संख्या ७, मई, '५०
"मार्क्सवाद और सत्याग्रह", वर्ष ४, संख्या ८, जुलाई, '५०
"जनतान्त्रिक समाजवाद ही क्यों ?" वर्ष ४, संख्या ८, अगस्त, '५०
"क्रान्ति और देश की वर्तमान स्थिति", वर्ष ४, संख्या ८, सितम्बर, '५०
"भारत के पुनरुत्थान में अंग्रेजी राज्य की देन", (विचार गोष्ठी), वर्ष ४, संख्या ८, अक्टूबर, '५०
"भारतेन्दु जयन्ती", (रिपोर्ट), वर्ष ४, संख्या ८, अक्टूबर, '५०
"धार्मिक आन्दोलनों में एकता का आधार", वर्ष ५, संख्या ६, जनवरी, '५१
"समष्टि और व्यक्ति", वर्ष ५, संख्या ९, मई, '५१
"अरुणा जी का मार्क्सवाद", वर्ष ५, संख्या ९, जून, '५१
"स्याम और बर्मा के कुछ संस्मरण", वर्ष ५, संख्या १०, सितम्बर, '५१
"सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न", वर्ष ५, संख्या १०, सितम्बर, '५१
"हमारी शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ", वर्ष ५, संख्या १०, अक्टूबर, '५१

ELECT ARTICLES

"The task before us", Congress Socialist, 1934

"Japanese Imperialism and the Kuomintang", Congress Socialist, Ap:il 11, 1936

"Communism in China", Congress Socialist, March 5, 1938

"Lessons of the Congress", Congress Socialist, March 5, 1938

"Kisan comes of age", April 16-23, 1939.

नघर्ष' (साप्ताहिक, लखनऊ) में प्रकाशित कुछ निबन्ध

"संसार मे दो खेमे हैं", १७ जनवरी, १९३८

"कांग्रेस समाजवादी कान्फ्रेन्स", ११ अप्रैल, १९३८

"हमारी वर्तमान राजनीति के प्रवर्त्तक लोकमान्य तिलक", ८ अगस्त, १९३८

"समाज का बदलता हुआ स्वरूप", १२ सितम्बर, १९३८

"शोषितों का युद्ध क्रान्ति से ही सफल होगा", १९ सितम्बर, १९३८

"आर्थिक रचना ही सामाजिक भवन की बुनियाद है", २६ सितम्बर, १९३८

"सामाजिक विचारपुंज पर आर्थिक रचना का नियन्त्रण होता है", ३ अक्टूबर, १९३८

"नये समाज का जन्म क्रान्ति के द्वारा ही होता है", ३ अक्टूबर, १९३८

"वर्ग संघर्ष की चरम सीमा ही क्रान्ति है", १७ अक्टूबर, १९३८

"पूंजीवादी वर्ग वर्तमान युग मे प्रतिगामी बन गया है", २४ अक्टूबर, १९३८

"कांग्रेस के भीतर दक्षिणपंथी कौन है", ८ अप्रैल, १९३९

"किसान राष्ट्रीय युद्ध में कांग्रेस की सहायता करें", १६ अप्रैल, १९३९

"खेतिहर मजदूरों का फर्ज दूसरे किसानों के साथ चलना है", २३ अप्रैल, १९३९

"समूचा हिन्दुस्तान एक और अखण्ड है", ४ जून, १९३९

"हमारी आजमाइश का वक्त आ गया है", १७ सितम्बर, १९३९

"आजाद हिन्दुस्तान ही सहयोग के मसले पर फैसला करेगा", ८ अक्टूबर, १९३९

"जंगे आजादी के लिए तैयार रहिये", १९ अक्टूबर, १९३९

"स्वतन्त्रता दिवस को सफल बनाइए", १५ जनवरी, १९४०

"आजादी की अगली लड़ाई और वामपक्ष की पार्टियाँ", ८ अप्रैल, १९४०

"यह हिन्दुस्तानियों की परीक्षा की घड़ी है", १५ अप्रैल, १९४०

"पाकिस्तान की योजना देश के लिए आत्म-घातक है", १७ जून, १९४०

"शिक्षा संस्थाओं में फैसिस्ट अनुशासन बर्दाश्त नहीं", २ दिसम्बर, १६४०
"सोशलिस्ट पार्टी की नीति और कार्यक्रम", ७ जुलाई, १६४७
"१५ अगस्त को समाज के नये व्यापक आधार की घोषणा हो", १४ जुलाई, १६४७
"प्रजातान्त्रिक या सर्वशक्तिवादी राज्य", १४ जुलाई, १६४७
"सोशलिस्ट पार्टी ३ जून की योजना पर तटस्थ क्यों रही ?", ४ अगस्त, १६४७
"नये दिल-दिमाग के नौजवानों पर ही सामाजिक क्रान्ति निर्भर", २६ सितम्बर, ५६४७
"दोनी हुकूमत और प्रजातन्त्र असंगत", ५ अक्टूबर, १६४७
"छात्रों को आन्दोलन बन्द करने की सलाह", १२ अक्टूबर, १६४७
"कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी का जन्म क्यों ?" २३ नवम्बर, १६४७

खण्ड एक

जीवनदृष्टि

शुभ और सभ्यता
मेरा जीवन-दर्शन
मेरे संस्मरण
हमारा आदर्श और उद्देश्य
सत्य की शक्ति
सविनय अवज्ञा
साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता

शुभ और सभ्यता

शुभ और अशुभ जीवन का ताना-बाना है। प्रकृति ने ऐसा ही जीवन हमको प्रदान किया है और इस ताने-बाने के द्वारा इतिहास-कार्य सम्पन्न होता है। शुभ और अशुभ के बीच संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में शुभ की विजय संस्कृति और शालीनता की विजय है। ज्यों-ज्यों शुभ की वृद्धि और अशुभ की हानि होती है त्यों-त्यों सभ्यता की उन्नति होती है। मानव के आत्म-विकास में भी यह संघर्ष सहायक होता है। बिना संघर्ष के आत्म-विकास सम्भव नहीं है। जिस व्यक्ति के सामने कोई समस्या नहीं है, जिसने किसी समस्या के हल करने का प्रयत्न नहीं किया है उसके व्यक्तित्व का विकास कैसे हो सकता है? शुभ कर्म के लिए अदम्य उत्साह का होना, जुल्म, अन्याय, दारिद्र्य के विरुद्ध अनवरत युद्ध करना एक विकसित व्यक्तित्व का कार्य है। निरन्तर संघर्ष करके ही मानव पाशविक जीवन से ऊपर उठा है और उसने जीवन के नवीन मानवीय मूल्यों की सृष्टि की है। मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है और यदि हम बहुजन-हित सुख के उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करें तो विपुल साधनों का उचित उपयोग करके हम दारिद्र्य और सामाजिक अन्याय का अन्त कर सकते हैं, और उन सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सकते हैं जिनके लिए मनुष्य ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी है और अथक परिश्रम किया है। खेद है कि साधनों के विपुल होते हुए भी दारिद्र्य और विषमता का अन्त नहीं होता। पूँजीवादी समाज साधनों पर अपने लाभ के लिए प्रभुत्व कायम रखना चाहता है और अपने हितों पर समाज के कल्याण को निछावर करता है। शोषित किसान और मजदूर इस अन्याय को रोकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उनमें शिक्षा और धन की कमी है। उनका संगठन दुर्बल है। वर्ग-संघर्ष के द्वारा यह वर्ग शिक्षित और संगठित होते है। यही इनकी पाठशाला है। आदर्शों के लिए कष्ट सहन करना एक-दूसरे के लिए त्याग की भावना रखना इत्यादि गुणों का पोषण इन पिछड़े हुए वर्गों में इसी प्रकार होता है

मेरा जीवन-दर्शन

प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए जीवन के अर्थ एवं उसके महत्त्व को अवश्य जानना चाहिए। जीवन सम्पन्न और विभिन्न रंगों से परिपूर्ण है। यह सरल और दुष्कर भी है; यह हर्ष एवं विषाद, जय एवं पराजय प्रदान करता है। विभिन्नता जीवन का अवर्णनीय विशेष गुण है और इसी कारण जीवन के विभिन्न पहलू है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने में ध्येय है और स्वयं के लिए अपने दृष्टिकोण से पूर्ण एवं सन्तोषदायक मार्ग की खोज अवश्य करनी चाहिए। उसे जीवन में अपने लिए स्थान बनाना होगा और अपने प्रिय कार्य को ढूँढ़ना होगा। केवल ऐसा ही कार्य प्रसन्नता प्रदान कर सकता है जो उसके स्वभाव के गहरे स्रोतों द्वारा प्रेरित हो। चूंकि जीवन के अनेक एवं विभिन्न रूप हैं, इसी कारण मानवीय अनुभव भी विचित्र हैं और प्रत्येक व्यक्ति उन्ही अनुभवों को प्राप्त करना पसन्द करता है जिनसे उसको पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है। उसको जीवन के पारम्परिक मूल्यों को बिना विवेचन किए स्वीकार नही करना चाहिए। जीवन लगातार परिवर्तनों को ग्रहण करता रहता है और सदा परिवर्तनशील है। विचारों एवं संस्थाओं का रूप बदल रहा है और इसी कारण ये ही हमें मानवीय मूल्यों का माप प्रदान करती हैं, और बाद में इन्ही की फिर से परिभाषा दी जा रही है। हमारा समाज जिसमें प्रभावशाली सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं और उनके समाधान को फिर से खोजा जा रहा है। यदि हम चाहते हैं कि जीवन सुखतर हो, कष्ट, पीड़ा एवं संघर्ष जिनसे आज हम दबे हुए है, कम हो तो हमें अपने समय की चुनौती का सामना करने के लिए सामाजिक मूल्यो को नया मापदण्ड देना होगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए जीवन के अर्थ को फिर से अवश्य खोजना होगा। दूसरे व्यक्ति केवल उसकी सहायता और मार्गदर्शन कर सकते है किन्तु प्रयत्न उसे स्वयं ही अवश्य करना होगा।

यह प्रश्न पूछा जाता है कि जीवन का ध्येय क्या है? मानवीय उद्देश्य की परिभाषा दी जाती है—जैसे सत्य, सुन्दरता और शिव या सामाजिक हित। (सत्य सुन्दरता और सामाजिक भलाई को मानवीय उद्देश्य की परिभाषा दी

जाती है) इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समस्त मानवीय प्रयत्न केन्द्रित करने होंगे। यदि हमें सामाजिक विश्रृंखलता को दूर करना है और मानव-जीवन को समृद्ध करना है तो इन्हें हमें उद्देश्य अवश्य स्वीकार करना होगा जिसके लिए हमें उसे निष्ठा देनी चाहिए और अपने-आप को समर्पित कर देना चाहिए। किन्तु विभिन्न युगों मे इन मानवीय उद्देश्यों के अलग-अलग अर्थ रहे है। लगातार उनकी परिभाषा फिर से दी जा रही है और बदलती हुई सामाजिक दशाओं में उनका पुन मूल्यांकन किया जा रहा है। व्यक्ति अपनी सामाजिक परिस्थितियों व साम्प्रतिक वातावरण की उत्पत्ति है और यद्यपि स्वयं अपने स्वभाव के लिए उसे जीवन का अर्थ पता लगाना होता है तथापि ऐसा वह जिस वातावरण में रहता है और उसके समय के मानवीय गुणों के ढाँचे के अन्दर रहकर ही कर सकता है।

विज्ञान और **तकनीकी** के आधुनिक युग में **संगठन** की समस्या ने एक विशेष महत्त्व ले लिया है। हमारे सामने मनुष्य जाति का एक बृहद् समुदाय है और जब तक हम यह नहीं जानते कि उसे **नियन्त्रित** करें हमे दुःखद अन्त की परिणति का सामना करना होगा। विज्ञान ने हमें विशाल स्रोतों का भण्डार दिया है, जिसका यदि उचित ढंग से प्रयोग किया जाय तो बीमारी और गरीबी (व्याधि एवं निर्धनता) मिटाई जा सकती है और बाहुल्य का युग लाया जा सकता है। इस युग मे संगठन, समुदाय, एकता की आवश्यकता बहुत हो गई है और जब तक हम पिछली शताब्दी के व्यक्तिवाद का त्याग नही करते और होड़ के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को नहीं अपनाते, हमारा दुःखद अन्त होगा और विज्ञान ने हमारी पहुँच में जो बाहुल्य स्रोत दिये है हम उनका बुद्धिमानी से उपयोग नहीं कर सकते।

यदि वर्तमान युग में हम उस समाज को चाहते है जो न्यायप्रिय एवं मानवीय गुणों से ओतप्रोत हो, जिसमें युद्ध का निषेध कर दिया गया हो और जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि प्राप्त कर सकें तो हमें अलगाव और स्वार्थ से उभर उठना होगा। एक सुनहला भविष्य और सुखद भाग्य मानव जाति की प्रतीक्षा कर रहा है बशर्ते कि वह उसके साधनों को सबके लाभ के लिए नियन्त्रित कर सके। यदि समाज को जीवित रहना है तो लाभ प्राप्त करने के इच्छुक समाज की घृणित स्वार्थपरता को और होड़ के युग को त्यागना होगा। केवल आवश्यकता के नियम को मान्यता प्रदान करके ही हम निजी जीवन को सुखी बना सकते है और अपने स्वतन्त्र विकास के द्वारा स्वयं प्राप्त कर सकते हैं; और नियम यह है कि आने वाले युग मे ही उसे पूर्ण एवं सन्तोषप्रद जीवन प्राप्त होगा और जो सबकी सेवा करेगा, आधुनिक युग के नियम को मान्यता देगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है और उसका अपना कोई जीवन नहीं है केवल मशीन का वह एक पुर्जा मात्र है वह मशीन का दास नहीं

है बल्कि वह मशीन को स्वयं अपनी और समाज की भलाई के लिए विवेक से चला सकता है बशर्ते कि उसमें सामाजिक जागरूकता हो और उसने अपने वातावरण और उसकी समस्या को सच्चाई से समझ लिया हो और समुदाय के जीवन से अपने को अभिन्न समझ लिया हो। यह उसे दूसरों के कहने से नहीं, बल्कि अपनी निजी स्वतन्त्र इच्छा से करना होगा। यह मशीन उन लोगों द्वारा नहीं चलाई जाएगी जो पद में मदान्ध हैं, बल्कि उनके द्वारा जिनमें मानवता की भावना है और सेवा का भाव।

अन्य लोगो के प्रति स्वेच्छिक एवं ईर्षारहित सेवा-भाव एक उत्तम गुण है तथा हम उसका अनुमोदन करते है परन्तु इसकी समानता उन लोगों के व्यक्तिगत बलिदान से नही करनी चाहिए जो किसी तानाशाह की आज्ञा से किया गया हो, जो अपनी इच्छापूर्ति के लिए किसी जाति को मिटा सकता है, जिससे उसकी शक्ति के विचारो की शान बढ़े। किसी व्यक्ति को तुच्छ नहीं समझना चाहिए, बल्कि उसके विपरीत उसके व्यक्तित्व को समुचित आदर प्रदर्शित करना चाहिए तथा उसके पूर्ण विकास के लिए सुअवसर प्रदान करना चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि एक **नवीन मानव संस्कृति** के किनारे खड़ा हुआ व्यक्ति अनुभव करे कि हम तभी अपने गन्तव्य की प्राप्ति कर सकते हैं **जब हम अपने नैतिकता तथा मानव-व्यवहार के सिद्धान्तों को बदलें तथा सामूहिक नैतिकता को सर्वोपरि माने।** हमको अनुभव करना चाहिए कि पूर्ण सफलता की प्राप्ति व्यक्ति की सफलता पर निर्भर करती है तथा इस अनुभूति के साथ कि हम एक नए समाज के स्रष्टा है जिसमें सहस्रों प्राणी इतिहास में प्रथम बार एक उत्तम मानवता का अस्तित्व अनुभव करेंगे, हमें प्रसन्नता महसूस करनी चाहिए। सहस्रो प्राणी जो युगों से जानवरो की तरह अपना अस्तित्व बनाए थे, एक नवीन स्तर पर लाए जाएँगे तथा एक नवीन स्वतन्त्रता अर्जित करेगे। जो कुछ व्यक्तिगत रूप में उससे छीना गया, उसको वापस हो जायगा तथा इस प्रकार उसके विराग का अन्त होगा।

परन्तु यह सब अर्जित करने के लिए एक नवीन जाति के अस्तित्व की आवश्यकता होगी जो समाज का सार होगी। वे एक नवीन युग एवं संस्कृति के अग्रगण्य होंगे। उनके वातावरण का एक नवीन दृष्टिकोण होगा, मानवता की वर्तमान शोचनीय परिस्थिति के प्रति जागरूकता, तथा उसके उपचार के ज्ञान की आवश्यकता होगी। आध्यात्मिकता के विश्व में और भी विषमताएँ हैं। यह वस्तुतः एक मानव-समस्या है। वे परिस्थितियाँ जिनमें समानता, सामाजिक न्याय तथा शान्ति का परिचय अथवा ज्ञान हो सकता है, वर्तमान हैं। केवल मनुष्यो को उन साधनों को प्रयोग में लाने का ज्ञान प्राप्त करना है जो जनहित मे हों।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने मनुष्य को एक विशेष दिशा में मोड़कर

शक्तिहीन तथा व्यक्तित्वहीन करके दास बना दिया है। आज व्यक्ति एक मशीन से सम्बद्ध मात्र है। कार्यकर्ता अपने परिश्रम के यन्त्र का मालिक नहीं है। उसे अपने कार्य में प्रसन्नता नहीं होती। उसके लिए यह रूखा एव निस्सार अस्तित्व है। वह अपनी क्षुद्रता के प्रति खूब जागरूक है। वह अनुभव करता है कि जीवन में जैसे उसे कोई भाग नही लेना है। इसके द्वारा उसके मन मे सामाजिक समस्याओं के प्रति निराशा, उदासीनता एवं उपेक्षा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस अस्वस्थ परिस्थिति ने उन विश्वासों तथा धर्मो को व्यापक बना दिया है जिन्होंने वर्तमान समस्याओं का समाधान निकालने के बजाय उनको और जटिल बना दिया। वे हमको उन समस्याओं पर विजय पाने के लिए न तो उत्साहित करती हैं और न इस ओर हमारा विश्वास स्थिर होने देती हैं। विश्व-युद्ध से पीड़ित लोग जो निःसहाय हैं, पुराने धर्मों में ही सान्त्वना ढूँढ़ते हैं और उनके दृष्टिकोण जो वर्तमान वातावरण में अपनी महत्त्वहीनता खो चुके हैं तथा जो ऐसी दशा में न तो किसी नई विचारधारा को जन्म दे पाने के योग्य हैं और न उस ओर मुड़ने की स्थिति में हैं, अब केवल निराशावादी एवं कुटिल बनकर रह गए हैं। यह दुःखदायी बात है कि बहुत-से सभ्य, सूक्ष्मग्राही व्यक्ति हैं जिनसे समाज के पुर्ननिर्माण में पथ-प्रदर्शन की आशा की जा सकती है परन्तु जो अपने जीवनपथ को त्यागकर किसी धार्मिक अध्यात्मवाद की शरण में चले गए है। हमे उन विचारधाराओ को निष्कासित कर देना चाहिए जो हमें अध्यात्मवादी बनाती है अथवा जीवन का धुँधला दृश्य उपस्थित करती हैं। हम भारतवासी इस प्रकार के निराशावादी विचारों पर विश्वास करने के आदी हो गये हैं जो हमें बताते हैं कि जीवन एक रिक्त स्वप्न है, यह मिथ्या है और जो जीवन-सागर से तथा कष्टों से मुक्ति का मार्ग बताते हैं। इस प्रकार के दर्शन एवं अनुशासन हमारा कुछ भला नहीं कर सकते। मनुष्य जिसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसे अपने अधीन कर लिया है, इस बात में विश्वास करने से इन्कार कर देगा कि अन्त ही उसका भाग्य है और वह अपने समक्ष फैली हुई समस्याओ की विशालता से हतोत्साह नही होगा। निराशावादिता एवं कुटिलता केवल अस्थायी अवस्थाएँ हैं और निश्चय ही यही मनुष्य उससे ऊपर उठेगा और जीवन को एक विशाल एवं बलिष्ठ रूप देगा और उसको प्राप्त उन अवसरो को जाने न देगा जो उसे एक सुन्दर एवं सुखदायी समाज का स्रष्टा बनने के लिए आज मिली हैं। वह अपना मुँह उस भूत मे नहीं छिपाएगा जो हमारी आँखों के सामने मिट रहा है और जो उन समस्याओ के समाधान के लिए कोई मार्ग नहीं बताता जो आज हमारे सामने हैं।

जीवन और ब्रह्माण्ड पर हमारे दृष्टिकोण ने अपनी एकता खोयी है। शिक्षा के क्षेत्र में प्राकृतिक एवं मानवीय विज्ञानों के बीच विभाजन किया जाता है। जिस प्रकार ज्ञान एकरूप नहीं है उसी प्रकार हमारे विचारों का ढांचा भी एक

खण्ड का नहीं है। इसका फल यह है कि जबकि वैज्ञानिक अपने निजी क्षेत्र में वस्तुओं का बुद्धिमानी से विवेचन करता है, वह अन्य मामलों में परम्परा से चले आ रहे विश्वास के आधार पर उन्हें देखता है और मानवीय अनुभवों के दूसरे क्षेत्रों मे वैज्ञानिक सिद्धान्तों को लागू करने का कोई प्रयत्न नहीं करता है। इस कारण, वैज्ञानिक ढग से सामाजिक विश्लेषण की नैतिक आदर्शों के साथ सावयवी एकता को प्राप्त करना होगा। तब सामाजिक समस्याओं में विज्ञान का प्रयोग नैतिक न रहेगा और वैज्ञानिक ज्ञान का हमारा साधन सर्वसाधारण की भलाई की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाया जावेगा।

मेरे संस्मरण*

मेरा जन्म संवत् १९४६ में कार्तिक शुक्ल अष्टमी को सीतापुर में हुआ था। हम लोगों का पैतृक घर फ़ैजाबाद में है, किन्तु उस समय मेरे पिता श्री बलदेव-प्रसादजी सीतापुर में वकालत करते थे। हमारे खानदान में सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध में अंग्रेजी हुकूमत सन् १८५६ में कायम हुई। इस कारण अवध में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ देर से हुआ। मेरे बाबा का नाम बा० सोहनलाल था। वह पुराने कैनिंग कालेज में अध्यापक का कार्य करते थे। उन्होंने मेरे पिता और मेरे ताऊ को अंग्रेजी की शिक्षा दी। पिताजी ने कैनिंग कालेज में एफ० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आँखों की बीमारी के कारण वह बी० ए० नहीं कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन-सुनकर ही उन्होंने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वह सीतापुर में मेरे बाबा के शिष्य मुंशी मुरलीधरजी के साथ वकालत करने लगे। दोनों सगे भाई की तरह रहते थे। दोनों की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मुशीजी के कोई सन्तान न थी। वह अपने भतीजे और मेरे बड़े भाई को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिताजी को सीतापुर छोड़ना पड़ा और वह फ़ैजाबाद में वकालत करने लगे।

जब वह सीतापुर में थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। किसी सन्यासी के प्रभाव में आने से ऐसा हुआ था। वह बड़े दानशील और सात्त्विक वृत्ति के थे। वेदान्त में उनकी बड़ी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। संन्यासियों का सत्संग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फ़ारसी का प्रचलन था। किन्तु अपनी संस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया था। वह एक नामी वकील थे। किन्तु वकालत के अतिरिक्त भी उनकी अनेक दिलचस्पियाँ थीं।

---

* जनवाणी (मासिक, बनारस), सितम्बर, १९४८

बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी और फ़ारसी में पाठ्य-पुस्तकें लिखी थी। इनके अतिरिक्त उन्होंने कई संग्रह-ग्रन्थ भी प्रकाशित किए थे। अंग्रेजी की प्राइमर तो उन्होंने मेरे बड़े भाई को पढ़ाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारम्भ इन्हीं पुस्तकों से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का भी शौक था। हमारे घर पर एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बड़ा हुआ तो गरमी की छुट्टियों में इनकी देखभाल भी किया करता था। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे पिताजी धार्मिक थे और इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, संन्यासी और पण्डित मेरे घर पर प्राय. आया करते थे। किन्तु पिताजी कांग्रेस और सोशल कान्फ्रेंस के कामों मे भी थोड़ी-बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पण्डित कालीदीन अवस्थी। वह हम भाई-बहनों को हिन्दी, गणित और भूगोल पढ़ाया करते थे। पिताजी मुझसे विशेष रूप से स्नेह करते थे। वह भी मुझे नित्य आध घण्टा पढ़ाया करते थे। मैं उनके साथ प्रायः कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वह मुझे अपने साथ एक बार दिल्ली ले गए थे। वहाँ भारत धर्म महामण्डल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पण्डित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को आँकने की मुझमे बुद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्माजी की उस समय बड़ी प्रसिद्धि थी।

मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढ़ा। इनके अतिरिक्त बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तकें भी पढ़ीं। उस समय चन्द्रकान्ता की बड़ी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को १६ बार पढ़ा होगा। चन्द्रकान्ता सन्तति को, जो २४ भाग में है, एक बार पढ़ा था। न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित् इन्हीं पुस्तकों का पठन-पाठन प्राय. हुआ करता था। १० वर्ष की आयु में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिताजी के साथ नित्य मैं सन्ध्या-वन्दन और भगवद्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघु-कौमुदी भी पढ़ी थी। जब मैं १० वर्ष का था अर्थात् १८९९ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिताजी डेलिगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय डेलिगेट का 'बैज' होता था कपड़े का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा लिया और उसको लगाकर अपने चचाजाद भाई के साथ 'विजिटर्स गैलरी' में जा बैठा। उस जमाने में प्रायः भाषण अंग्रेजी में होते थे और यदि हिन्दी में भी होते, तब भी मैं कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवाय शोर-गुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था। दर्शकों ने तंग आकर मुझे डाँटा और पंडाल से भागकर मैं बाहर चला आया। उस समय मै कांग्रेस के महत्त्व को क्या समझ सकता था। किन्तु इतना मैं जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र

टे २७५

दत्त और जस्टिस रानाडे देश के बड़े नेताओं में से हैं। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वहीं किया। रानाडे महाशय की तो सन् १९०१ में मृत्यु हो गई। दत्त महाशय का दर्शन दोबारा १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर हुआ।

मैं १९०२ मे स्कूल में भरती हुआ। सन् १९०४ या १९०५ में मैंने थोड़ी बंगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिताजी का मेरे जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली-गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियों में सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक बार मुझे याद है कि अयोध्या मे कोई मेला था। मैंने शौकिया सिगरेट की एक डिबिया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खींचा तो सर घूमने लगा। इलायची, पान खाने पर तबीयत सँभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि लोग क्यों सिगरेट पीते है। मैंने उस दिन से आज तक सिगरेट नहीं छूआ। हाँ, श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्ट्रैमोनियम के सिगरेट पीने पड़े है। मेरे पिता जी सदा आदेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिए। मुझे इस सम्बन्ध मे एक घटना याद आती है। मैं बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामूँ को पूछते हुए आए। मैं घर के अन्दर गया। मामूँ से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होंने कहा कि जाकर कह दो कि घर मे नही है। मैंने उनसे यह सदेशा ज्यों का त्यों कह दिया। मेरे मामूँ बहुत नाराज हुए। मैं अपनी सिधाई में यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे कोई यह नतीजा न निकाले कि मैं बड़ा सत्यवादी हूँ। किन्तु इतना सच है कि मैं झूठ कम बोलता हूँ। ऐसा जब कभी होता है तो लज्जित होता हूँ और बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिताजी की शिक्षा चेतावनी का काम करती है। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे यहाँ अक्सर साधू-संन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पं० माधवप्रसाद मिश्र। वह महीनों हमारे घर पर रहा करते थे। वह बंगला भाषा अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने 'देशेर कथा' का हिन्दी मे अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गई थी। वह हिन्दी के बड़े अच्छे लेखक थे। वह राष्ट्रीय विचार के थे। मैं इनके निकट सम्पर्क में आया। मेरा घर का नाम 'अविनाशीलाल' था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते है। मिश्रजी पर बंगला भाषा का अच्छा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने हम सब भाइयों के नाम बदल दिए। उन्होंने ही मेरा नाम 'नरेन्द्र देव' रखा। सनातन धर्म पर प्रायः व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् १९०६ में जब मैं एण्ट्रेंस में पढ़ता था, स्वामी रामतीर्थ का फ़ैजाबाद आना हुआ और वह हमारे अतिथि हुए। उस समय वह केवल दूध पर रहते थे। शहर में उनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बड़ा तेज

था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और बाद को मैंने उनके ग्रन्थों का अध्ययन किया। वह हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्रजी ने उनसे कहा कि संन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता। इतना कहना था कि वह अपना सारा सामान छोड़कर चले गए और पहाड़ से उनकी चिट्ठी आई कि "राम खुश है।"

हमारे स्कूल में एक बड़े योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था—श्री दत्तात्रेय भीखाजी रानाडे। उनका मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके पढ़ाने का ढंग निराला था। उस समय मैं ८वीं कक्षा में था। किन्तु अंग्रेजी व्याकरण में हमारे दर्जे के विद्यार्थी १०वीं कक्षा के विद्यार्थियों के कान काटते थे। मैं अपनी कक्षा में सर्व-प्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहा करते थे। किन्तु संस्कृत के पण्डित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियों से नाराज हो गए और उन्होंने वार्षिकपरीक्षा में हम लोगों को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग बड़े परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमण लाल स्कूल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। अपने जीवन में एक बार यह विरक्त हो गए थे। इनके घर पर हम लोग प्राय जाया करते थे। यह अपने विद्यार्थियों को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सुपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकालकर दिया करता था। मुझे याद आया कि पण्डितजी दो वर्ष के कैलेण्डर अपने नाम ले गए हैं। ख्याल आया, कहीं इन्हीं वर्षों के एण्ट्रेंस के प्रश्नपत्र से प्रश्न न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियों के साथ बैठकर उन प्रश्नपत्रों को हल किया। देखा गया कि उन्हीं प्रश्नपत्रों से सब प्रश्न पूछे गए है। परीक्षा-भवन में पण्डितजी ने मुझसे पूछा कि कहो, कैसा कर रहे हो? मैंने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन में ऐसा अच्छा परचा कभी नहीं किया। उन्होंने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। मुझे उन्हें विवश होकर ५० में ४६ अंक देने पड़े और कोई भी विद्यार्थी फेल न हुआ। यदि मैं लाइब्रेरियन महाशय का सहायक न होता तो अवश्य फेल हो गया होता।

सन् १९०५ में पिताजी के साथ मैं बनारस कांग्रेस में गया। पिताजी के निकट सम्पर्क में आने से मुझे भारतीय संस्कृति से प्रेम हो गया था। यह मौखिक प्रेम था। उसका ज्ञान तो कुछ था नहीं। किन्तु इसी कारण आगे चलकर मैंने एम०ए० में संस्कृत ली। १९०४ में पूज्य मालवीयजी फैजाबाद आए थे। भारत धर्म महामण्डल से सम्बद्ध होने के नाते वह मेरे पिताजी से मिलने घर पर आए। गीता के एक-आध अध्याय सुने। मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एण्ट्रेंस पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहना। पूज्य मालवीयजी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना रहता नहीं था। यद्यपि मैंने सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में नाम

लिखाने का विचार किया था, किन्तु साथियों के कारण उस विचार को छोड़ना पड़ा। एण्ट्रेंस पास कर मैं इलाहाबाद पढ़ने गया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगा। मेरे ३-४ सहपाठी थे। हमको एक बड़े कमरे में रखा गया। छात्रावास में रहने का यह पहला अवसर था।

बंगभंग के कारण कांग्रेस में एक नये दल का जन्म हुआ था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई खास राजनैतिक विचार न थे। किन्तु कांग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं सन् १९०५ में दर्शक के रूप में कांग्रेस में शरीक हुआ था। प्रिंस आफ वेल्स भारत आने वाले थे और उनका स्वागत करने के लिए एक प्रस्ताव गोखले ने कांग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उसका घोर विरोध किया। अन्त में दबाव में उसे वापस ले लिया। किन्तु उस समय पण्डाल से बाहर चले आए। विरोध की यह पहली ध्वनि सुनाई पड़ी। सन् १९०६ में कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस उग्र विचारों का केन्द्र था। पण्डित सुन्दरलालजी उस समय विद्यार्थियों के अगुवा थे। अपने राजनीतिक विचारों के कारण वह विश्वविद्यालय से निकाले गए। उस समय बोर्डिंग हाउस में रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्द गरम दल के विचार का हो गया। हममें से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन में शरीक हुए। रिपन कालेज में हम लोग ठहराए गए। नरम-गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई नौरोजी सभापति न होते तो वहीं दो टुकड़े हो गए होते। उनके कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग स्वदेशी, विदेशी माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा थे। कांग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनों दलों में विवाद खड़ा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्वेष और घृणा का भाव फैलता है, तथापि बंगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पड़ा।

जापान की विजय से एशिया में नव-जागृति का आरम्भ हुआ। एशिया-वासियों ने अपने खोये हुए आत्मविश्वास को फिर से पाया और अंग्रेजों की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था, वह उठने लगा। इस पीढ़ी का अंग्रेजी शिक्षित वर्ग समझता था कि अंग्रेज हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और जब हमको शासन के कार्य में दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंपकर चला जायगा। बिना इस विश्वास को दूर किए राजनीति में प्रगति आ नहीं सकती थी। लोकमान्य ने यही काम किया। इस नए दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते में की गई। इसकी ओर से कलकत्ते में दो सभाएँ हुईं। एक सभा बड़ा बाजार में हुई थी। उसमें भी मैं मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमें सब

भाषण हिन्दी में हुए थे। श्री विपिनचन्द्र पाल और लोकमान्य तिलक भी हिन्दी में बोले थे। श्री पाल को हिन्दी बोलने में कोई विशेष कठिनाई नहीं प्रतीत हुई, किन्तु लोकमान्य की हिन्दी टूटी-फूटी थी। बड़ा बाजार में उत्तर भारत के लोग अधिकतर रहते हैं। उन्हीं की सुविधा के लिए हिन्दी में ही भाषण कराये गए थे। बंगाल में इस नए दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की कांग्रेस के बाद संयुक्त प्रान्त को सर करने के लिए दोनों दलों में होड़ लग गई। प्रयाग में दोनों दलों के बड़े-बड़े नेता आए और उनके व्याख्यानों को सुनने का मुझको अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आए। उनके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पर गए। उनकी सभा का आयोजन थोड़े से विद्यार्थियों ने किया था। शहर के नेताओं में से कोई उनके स्वागत के लिए नहीं गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोड़ा गाड़ी लाए थे। हम लोगों ने घोड़ा खोलकर स्वयं गाड़ी खींचने का आग्रह किया, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे—'Reserve that enthusiasm for a better cause.—इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिए।' एक वकील साहब के अहाते में उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गए हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगों ने दरी बिछाई। एक विद्यार्थी ने 'वन्दे मातरम्' गान गाया और अंग्रेजी में भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य रस का भी पुट रहता था। किन्तु वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अंग्रेज ईश्वर से भी बड़ा है? इसके कुछ दिनों बाद श्री गोखले आए और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला में हुए। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर हम टैक्स देना भी बन्द कर सकते हैं। इसके बाद श्री विपिनचन्द्र पाल आए और उनके ४ ओजस्वी व्याख्यान हुए। इस तरह समय-समय पर किसी न किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपत राय और हैदर रजा भी आए। नरम दल के नेताओं में केवल श्री गोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियों पर पड़ा। हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मँगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्दे मातरम्' आता था, जिसे हम बड़े चाव से पढ़ा करते थे। इसके लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढ़ा हो और जिसे दूसरों को न पढ़ाया हो। पांडिचेरी जाने के बाद भी उनका प्रभाव कायम रहा और मैं 'आर्य' का वर्षों ग्राहक रहा। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बंगाल लौटेंगे और राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे। सन् १९२१ में उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गई थी। किन्तु उन्होंने अपने मार्ग

वारीन्द्र को लिखा कि सन् १९०८ के अरविन्द को बंगाल चाहता है। किन्तु मैं सन् १९०८ का अरविन्द नहीं रहा। यदि मेरे ढंग के ९९ भी कर्मी तैयार हो जाएँ तो मैं आ सकता हूँ। बहुत दिनों तक मुझे यह आशा बनी रही, किन्तु अन्त में जब मैं निराश हो गया तो उधर से मुँह मोड़ लिया। उनके विचारों में ओज के साथ-साथ सच्चाई थी। प्राचीन संस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द आते थे। उनका जीवन बड़ा सादा था। जिन्होंने अपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढ़े हैं, वह इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने मुझको बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्रवृत्ति छोड़कर विलायत से लौट आए थे। उन्होंने सरकारी विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा-प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा समस्या' पर १४ लेख पंजाबी में लिखे थे। उनके प्रभाव में आकर पंजाब के कुछ विद्यार्थियों ने पढ़ना छोड़ दिया था। उनको पढ़ाने का भार उन्होंने स्वयं लिया था। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। हरदयालजी बड़े प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बड़ा काम बिना कठोर साधना के नहीं होता। एडविन अर्नल्ड की 'लाइट ऑफ एसिया' को पढ़कर वह बिल्कुल बदल गए थे। विलायत में श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा का उन पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किए थे। इन सूचियों की पुस्तकों को पढ़ना मैंने आरम्भ किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस समय रूस-जापान युद्ध, गैरीबाल्डी और मैजिनी पर पुस्तकों और रूस के आतंकवादियों के उपन्यास पढ़ा करते थे। सन् १९०७ में प्रयाग से रामानन्द बाबू का 'माडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका बड़ा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बंगाली नवयुवक को क्रान्तिकारी समझते थे। बंगला साहित्य में इस कारण और भी रुचि उत्पन्न हो गई। मैंने रमेशचन्द्र दत्त और बंकिम के उपन्यास पढ़े और बंगला साहित्य थोड़ा-बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत में हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नहीं खरीदते थे। माघ-मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कालेज के प्रिंसिपल जेनिंग्स साहब थे। वह कट्टर एंग्लो-इण्डियन थे। हमारे छात्रावास में एक विद्यार्थी के कमरे में खुदीराम बोस की तसवीर थी। किसी ने प्रिंसिपल को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आए और सीधे मेरे मित्र के कमरे में गए। मेरे मित्र कालेज से निकाल दिए गए। किन्तु श्रीमती एनी बेसेण्ट ने उनको हिन्दू कालेज में भरती कर लिया।

धीरे-धीरे हममें से कुछ का क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध होने लगा। उस समय कुछ क्रान्तिकारियों का विचार था कि आई०सी०एस्० में शामिल होना चाहिए ताकि क्रान्ति के समय हम जिले का शासन संभाल सकें। इस विचार से मेरे ४ साथी इंगलैण्ड गए मैं भी सन १९११ में जाना चाहता था किन्तु माताजी की आज्ञा

न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् १९०७ में सूरत में फूट पड़ चुकी थी और कांग्रेस से गरम दल के लोग निकल आए थे। कनवेंशन बुलाकर कांग्रेस का विधान बदला गया। इसे गरम दल के लोग कनवेंशन कांग्रेस कहते थे। गवर्नमेण्ट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल में डाल दिये गए। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गए और लन्दन, पेरिस, जिनेवा और बर्लिन में क्रान्ति के केन्द्र बनाने लगे। वहाँ से ही साहित्य प्रकाशित होता था। मेरे जो साथी विलायत पढ़ने गए थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्री सावरकर की 'वार ऑफ इंडिपेंडेंस' की एक प्रति भी मेरे पास आई थी और मुझे बराबर हरदयाल का 'वन्दे मातरम्', बर्लिन का 'तलवार' और पेरिस का 'इण्डियन सोशियालजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तों में से एक सन् १९१४ की लड़ाई मे जेल में बन्द कर दिए गए थे तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आए। मैंने सन् १९०८ के बाद से कांग्रेस के अधिवेशनों में जाना छोड़ दिया, क्योंकि हम लोग गरम दल के साथ थे। यहाँ तक कि जब कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग मे हुआ, तब भी हम उसमें नहीं गए। सन् १९१६ में जब कांग्रेस में दोनों दलों में मेल हुआ तब हम फिर कांग्रेस में आ गए।

बी० ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मैं क्या करूँ। मैं कानून पढ़ना नहीं चाहता था। मैं प्राचीन इतिहास में गवेषणा करना चाहता था। म्योर कालेज में भी अच्छे-अच्छे अध्यापकों के सम्पर्क में आया। डाक्टर गंगानाथ झा की मुझ पर बड़ी कृपा थी। बी० ए० में प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढ़ा। भारत के मध्ययुग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढ़ाते भी अच्छा थे। उन्हीं के कारण मैंने इतिहास का विषय लिया। बी० ए० पास कर मैं पुरातत्त्व पढ़ने काशी चला गया। वहाँ डाक्टर वेनिस और नारमन ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कालेज में जो अंग्रेज अध्यापक आते थे, वह संस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डाक्टर वेनिस ऐसा पढ़ानेवाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब मैं क्वींस कालेज में था, तब वहाँ श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आने वाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियों के समाचार मिलते रहते थे। मेरी इन लोगों के साथ बड़ी सहानुभूति थी। किन्तु मैं डकैती आदि के सदा विरुद्ध था; मैं किसी भी क्रान्तिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु उनके कई नेताओं से परिचय था। वे मुझ पर विश्वास करते थे और समय-समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् १९१३ में जब मैंने एम० ए० पास किया, तब मेरे घर वालों ने वकालत पढ़ने का आग्रह किया। मैं इस पेशे को पसन्द नहीं करता था। किन्तु जब पुरातत्त्व विभाग में स्थान न मिला, तब इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति में भाग ले सकूँगा मैंने कानून पढ़ा।

सन् १९१५ में मैं एल० एल० बी० पास कर वकालत करने फ़ैज़ाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग में परिपक्व हुए और वहीं मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियाँ रही हैं—एक पढ़ने-लिखने की ओर; दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनों मे संघर्ष रहता है। यदि दोनों की सुविधा एक साथ मिल जाय तो मुझे बड़ा परितोष रहता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ में मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है, जो विद्यापीठ की सेवा में व्यतीत हुआ, और आज भी उसे मैं अपना कुटुम्ब समझता हूँ।

सन् १९१४ में लोकमान्य मंडाले जेल से रिहा होकर आए और अपने सहयोगियों को फिर से एकत्र करने लगे। श्रीमती बेसेण्ट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ, और होमरूल लीग की स्थापना हुई। सन् १९१५ मे हमारे प्रान्त में श्रीमती बेसेण्ट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सम्बन्ध में लोकमान्य से बात की और उनकी लीग की एक शाखा फ़ैज़ाबाद में खोलनी चाही, किन्तु उन्होंने यह कहकर मना किया कि दोनों के उद्देश्य एक हैं, दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गई किसी संस्था में शरीक नहीं होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती बेसेण्ट द्वारा स्थापित किसी संस्था में नहीं रहना चाहते। मैंने लीग की शाखा फ़ैज़ाबाद में खोली और उसका मन्त्री चुना गया। इसकी ओर से प्रचार का कार्य होता था और समय-समय पर सभाओं का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला भाषण अलीबन्धुओं की नजरबन्दी का विरोध करने के लिए आमन्त्रित सभा में हुआ था। मैं बोलते हुए बहुत डरता था। किन्तु किसी प्रकार बोल गया और कुछ सज्जनों ने मेरे भाषण की प्रशंसा की। इससे मेरा उत्साह बढा और फिर धीरे-धीरे संकोच दूर हो गया। मैं जब सोचता हूँ कि यदि मेरा पहला भाषण बिगड़ गया होता तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

मैं लीग के साथ-साथ कांग्रेस में भी था और बहुत जल्दी उसकी सब कमेटियों मे बिना प्रयत्न के पहुँच गया। महात्माजी के राजनीतिक क्षेत्र में आने से धीरे-धीरे कांग्रेस का रूप बदलने लगा। आरम्भ में वह कोई ऐसा हिस्सा नहीं लेते थे, किन्तु सन् १९१९ से वह प्रमुख भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जब महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन चलाना चाहा तो असहयोग के कार्यक्रम के सम्बन्ध में लोकमान्य से उनका मतभेद था। जून, १९२० में काशी में ए० आई० सी० सी० की बैठक के समय मैंने इस सम्बन्ध में लोकमान्य से बातें कीं। उन्होंने कहा कि मैंने अपने जीवन में कभी गवर्नमेण्ट के साथ सहयोग नहीं किया; प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वह पुराना विश्वास नहीं रह गया था और उनका ख्याल था कि प्रोग्राम ऐसा हो जिस पर जनता चल सके। वह कौंसिलों के बहिष्कार के खिलाफ थे उनका कहना था कि यदि आधी

भी जगहें खाली रहें तो यह ठीक है। किन्तु यदि वहाँ जगहें भर जायेंगी तो अपने को प्रतिनिधि कहकर सरकारपरस्त लोग देश का अहित करेंगे।

उनका एक सिद्धान्त यह भी था कि कांग्रेस मे अपनी बात रखो और अन्त मे जो उसका निर्णय हो उसे स्वीकार करो। मैं तिलक का अनुयायी था। इसलिए मैंने कांग्रेस में कौंसिल-बहिष्कार के विरुद्ध वोट दिया। किन्तु जब एक बार निर्णय हो गया तो उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे में मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया तो उसके अनुसार मैंने तुरन्त वकालत छोड़ दी। इस निश्चय में मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नही किया, क्योंकि मैं कांग्रेस के निर्णय से अपने को बँधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी ख्याल नहीं किया। पिताजी से एक बार पूछना चाहा, किन्तु यह सोचकर कि यदि उन्होंने विरोध किया तो मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकूँगा, मैंने उनसे भी अनुमति नहीं माँगी। किन्तु पिता जी को जब पता चला तो उन्होंने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कहा कि तुमको अपनी स्वतन्त्र जीविका की कुछ फिक्र करनी चाहिए और जब तक जीवित रहे, मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नही होने दी। असहयोग आन्दोलन के शुरू होने के बाद एक बार पण्डित जवाहरलाल फ़ैजाबाद आए और उन्होने मुझसे कहा कि बनारस में विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहाँ लोग तुम्हें चाहते है। मैंने अपने प्रिय मित्र श्री शिवप्रसादजी को पत्र लिखा। उन्होंने मुझे तुरन्त बुला लिया। शिवप्रसादजी मेरे सहपाठी थे। और विचार-साम्य होने के कारण मेरी-उनकी मित्रता हो गई। वह बड़े उदार हृदय के व्यक्ति थे। दानियों में मैंने उन्हीं को एक पाया जो नाम नही चाहते थे। क्रान्तिकारियो की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम में मेरा मन लग गया। श्रद्धेय डाक्टर भगवानदास ने मुझ पर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्ही की देखरेख में मैं काम करने लगा। मैं दो वर्ष तक छात्रावास मे ही विद्यार्थियों के साथ रहता था। एक कुटुम्ब-सा था। साथ-साथ हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची मे जब अलीबन्धुओं को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गाँवो मे प्रचार के लिए गए थे। अपना-अपना बिस्तर बगल में दबा, नित्य पैदल घूमते थे। सन् १९२६ में डाक्टर साहब ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस मे मुझे कई नये मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापकों से मेरा बडा मीठा सम्बन्ध रहा है। श्री श्रीप्रकाशजी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गए। उन्होंने मुझे आचार्य कहना शुरू किया। यहाँ तक कि वह मेरे नाम का एक अंग बन गया है। सबसे वह मेरी प्रशंसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलालजी से होमरूल आन्दोलन के समय से था तथापि द्वारा उनसे तथा गणेशजी से

मेरी घनिष्ठता हुई। मैं उनके घर में महीनों रहा हूँ। वह मेरी सदा फिक्र उस तरह करते हैं, जैसे माता अपने बालक की। मेरे बारे में उनकी राय है कि मैं अपनी फिक्र नहीं करता हूँ। शरीर के प्रति बड़ा लापरवाह हूँ। मेरे विचार चाहे उनसे मिलें या न मिलें, उनका स्नेह घटता नहीं। सियासत की दोस्ती पायदार नहीं होती। किन्तु विचारों में अन्तर होते हुए भी हम लोगों के स्नेह में फर्क नहीं पड़ा है। पुराने मित्रों से वियोग दुःखदायी है। किन्तु यदि शिष्टता बनी रहे तो सम्बन्ध में बहुत अन्तर नहीं पड़ता, ऐसी मिसालें हैं, किन्तु बहुत कम।

नेता के मुझमें कोई भी गुण नहीं हैं। महत्त्वाकांक्षा भी नहीं है। यह बड़ी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हूँ और न अन्धभक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं अनुशासन में नहीं रहना चाहता। मैं व्यक्तिवादी नहीं हूँ। नेताओं की दूर से आराधना करता रहा हूँ। उनके पास बहुत कम जाता रहा हूँ। यह मेरा स्वाभाविक संकोच है। आत्म-प्रशंसा सुनकर कौन खुश नहीं होता; अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नहीं होती। किन्तु मैंने कभी इसके लिए प्रयत्न नहीं किया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की। किन्तु अपने मान्य नेताओं के अनुरोध पर खड़ा होना पड़ा। इसी प्रकार जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझसे वर्किंग कमेटी में आने को कहा तो मैंने इनकार कर दिया। किन्तु उनके आग्रह करने पर मुझे निमन्त्रण स्वीकार करना पड़ा।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मैं नेता नहीं हूँ। इसलिए किसी नए आन्दोलन या पार्टी का आरम्भ नहीं कर सकता। सन् १९३४ में जब जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति बनाना चाहा तो मैंने इनकार कर दिया। इसलिए नहीं कि समाजवाद को नहीं मानता था, अपितु इसलिए कि मैं किसी बड़ी जिम्मेदारी को उठाना नहीं चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था और इसी कारण मुझे अन्त में उनकी बात माननी पड़ी। सम्मेलन पटना में मई, १९३४ में हुआ था। बिहार में भूकम्प हो गया था। उसी सिलसिले में विद्यार्थियों को लेकर काम करने गया था। वहाँ पहली बार डाक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अन्त में हम लोगों की विजय हुई। श्री मेहर अली से एक बार सन् १९२८ में मुलाकात हुई थी। बम्बई के और मित्रों को मैं उस समय तक नहीं जानता था। अपरिचित व्यक्तियों के साथ काम करते मुझको घबराहट होती है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गए।

यों तो मैं अपने सूबे में बराबर भाषण किया करता था किन्तु अखिल

भारतीय कांग्रेस कमेटी में मैं पहली बार पटना में बोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक बार कहा था कि बंगाली और मद्रासी कांग्रेस में बहुत बोला करते है; बिहार के लोग जब औरों को बोलते देखते है तो खिसककर राजेन्द्र बाबू के पास जाते हैं और कहते है कि "रौवां बोली न", और यू० पी० के लोग खुद नही बोलते और जब कोई बोलता है तो कहते हैं, "क्या बेवकूफ़ बोलता है!" हमारे प्रान्त के बड़े-बड़े नेताओं के आगे हम लोगों को कभी बोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। एक समय पण्डित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे। किन्तु १९३४ में मुझे पार्टी की ओर से बोलना पड़ा। यदि पार्टी बनी न होती तो शायद मैं कांग्रेस मे बोलने का साहस भी नही करता।

पण्डित जवाहरलालजी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके ऊँचे व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा है। उनके सम्बन्ध मे कई कोमल स्मृतियाँ हैं। यहाँ केवल एक बात का उल्लेख करता हूँ। हम लोग अहमदनगर के किले में एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातों की चर्चा चल पड़ी। उन्होंने कहा—नरेन्द्र देव! यदि मैं कांग्रेस के आन्दोलन मे न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता तो मैं इन्सान न बनता। उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक में जवाहरलालजी का एक पत्र उद्धृत किया है जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। पं० मोतीलालजी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी बहनों को लिखा कि पिता की सम्पत्ति मेरी नही है, मैं तो सबके लिए उसका ट्रस्टी मात्र हूँ। उस पत्र को पढ़कर मेरी आँखों में आँसू आ गए और मैंने जवाहरलालजी की महानता को समझा। उनको अपने साथियों का बड़ा ख्याल रहता था और बीमार साथियों की बडी शुश्रुषा करते थे।

महात्माजी के आश्रम में चार महीने रहने का मौका मुझे सन् १९४२ मे मिला। मैंने देखा कि वे कैसे अपने प्रत्येक क्षण का उपयोग करते हैं। वह रोज आश्रम के प्रत्येक रोगी की पूछताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यकर्ता का ख्याल रखते थे। आश्रमवासी अपनी छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम में रोग-शय्या पर पड़े-पड़े मै विचार किया करता था कि वह पुरुष जो आज के हिन्दू धर्म के किसी नियम को नही मानता, वह क्यों असंख्य सनातनी हिन्दुओं का आराध्य देवता बना हुआ है। पण्डित समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे, किन्तु अपढ़ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते है, जब हम जाने कि भारतीय जनता पर श्रमण-संस्कृति का कहीं अधिक प्रभाव पड़ा है। जो व्यक्ति घर-बार छोड़कर निःस्वार्थ सेवा करता है, उसके आचार की ओर हिन्दू जनता ध्यान नही देती। पण्डित-जन भले ही उसकी निन्दा करें किन्तु जनता उनका सदा

सम्मान करती है। अक्टूबर, १९४१ में जब मैं जेल से छूटा तब महात्माजी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम में बुलाया। मैं महात्माजी पर बोझ नहीं डालना चाहता था। इसलिए कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आई० सी० सी० की बैठक मे शरीक होने वर्धा गया और वहाँ बीमार पड़ गया, तब उन्होंने रहने के लिए आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्माजी मेरी बडी फिक्र में रहते थे। एक रात मेरी तबीयत बहुत खराब हो गई। जो चिकित्सक नियुक्त थे वह घबरा गए। यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात को १ बजे बिना मुझे बताए महात्माजी को जगाने गए और वह मुझे देखने आए। वह उनका मौन का दिन था। उन्होने मेरे लिए मौन तोड़ा। उसी समय मोटर भेजकर वर्धा से डाक्टर बुलाए गए। सुबह तक तबीयत सँभल गई थी। दिल्ली में स्टैफर्ड क्रिप्स वार्तालाप के लिए आए थे। महात्माजी दिल्ली जाना नहीं चाहते थे, किन्तु आग्रह होने पर गए। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के बँटवारे का सवाल किसी-न-किसी रूप मे लावेंगे। इसीलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से बराबर फोन से मेरी तबीयत का हाल पूछा करते थे। बा भी उस समय बीमार थीं। इस कारण वह जल्दी लौट आए। जिनके विचार उनसे नहीं मिलते थे, यदि वह ईमानदार होते थे तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्माजी सोच रहे थे कि जेल में वह इस बार भोजन नहीं करेंगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई बड़े चिन्तित हुए। उन्होने मुझसे कहा कि तुम भी इस सम्बन्ध मे महात्माजी से बातें करो। डाक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन आ गए थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गई। हम दोनों ने बहुत देर तक बातें की। महात्माजी ने हमारी बात शान्तिपूर्वक सुनी। किन्तु उस दिन अन्तिम निर्णय न कर सके। बम्बई में जब हम लोग ९ अगस्त को गिरफ्तार हो गए तो स्पेशल ट्रेन मे अहमदनगर ले जाए गए। उसमें महात्माजी, उनकी पार्टी और बम्बई के कई प्रमुख लोग थे। नेताओं ने उस समय भी महात्माजी से अन्तिम बार प्रार्थना की कि वह ऐसा काम न करें। किले में भी हम लोगों को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् '४५ मे हम लोग छूटे। मै जवाहरलालजी के साथ अलमोड़ा जेल से १४ जून को रिहा हुआ। कुछ दिनों के बाद मैं पूना मे महात्माजी से मिला। उन्होंने पूछा कि सत्य और अहिंसा के बारे में अब तुम्हारे क्या विचार है? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से आराधना किया करता हूँ, किन्तु इसमें मुझको सन्देह है कि बिना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अंग्रेजों से छीन सकेंगे। महात्माजी के सम्बन्ध मे अनेक संस्मरण हैं, किन्तु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नही कहते।

इधर कई वर्ष से कांग्रेस में यह चर्चा चल रही थी कि कांग्रेस म कोई पार्टी

नहीं रहनी चाहिए। महात्माजी इसके विरुद्ध थे। देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी मेरी यह राय थी कि अभी कांग्रेस से अलग होने का समय नहीं आया है, क्योंकि देश संकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस सम्बन्ध मे मतभेद था। किन्तु मेरे मित्रों ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि कांग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया जिससे हम लोगों का कांग्रेस मे रहना असम्भव हो गया तो मैं सबसे पहले कांग्रेस छोड़ दूँगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको आत्मसम्मान का ख्याल है, ऐसा नियम बनने पर नहीं रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी कांग्रेस छोड़ने का निर्णय करती तो यह तो ठीक है कि मैं आदेश का पालन करता, किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं कहाँ तक उसके पक्ष में होता। कांग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब सन्देह मिट गए और अपना निर्णय करने मे मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पड़ा है, ऐसे ही हुए है। इन मौकों पर घटनाएँ ऐसी हुई कि मुझे अपना फैसला करने में कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गए है। शरीर-सम्पत्ति अच्छी नहीं है। किन्तु मन में अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। स्वतन्त्र भारत मे इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आँखें मुँदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ मे किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हूँ कि यही मेरी पूँजी है, और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।

हमारा आदर्श और उद्देश्य

भारतीय समाज में महान परिवर्तन होने वाले हैं। देश में नवजीवन हिलोरे ले रहा है। भारत की अवरुद्ध जीवनशक्ति अब फिर वेगवती हो चली है। भारत का नया मानव अपने सपने सार्थक करने को निकल पड़ा है। इस नवजीवन-प्रवाह को रोकने का प्रयत्न निरर्थक है। इसे रोकने का प्रयत्न सफल नही हो सकता। इस तरह सामाजिक शक्ति नष्ट करने से व्यक्तियों तथा समूहों को रोकना है। सामाजिक शक्ति की दिशा निर्धारित करनी है, उसका नियन्त्रण करना है।

पुराने आदर्शों से आज पथ-निर्देश नहीं हो पाता। पुरानी परम्परा से आज सहारा नही मिलता। आज नये नेतृत्व की आवश्यकता है। समाजवाद ही यह नया नेतृत्व प्रदान कर सकता है। जनता के विस्तृत तथा व्यापक हित के आधार पर निर्मित यह सम्पूर्ण सामाजिक सिद्धान्त ही हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। जनजागरण तथा जनक्रान्ति की रीति ही समाज के समुचित विकास का साधन बन सकती है।

समाजवाद का सवाल केवल रोटी का सवाल नही है। समाजवाद मानव-स्वतन्त्रता की कुंजी है। समाजवाद ही एक स्वतन्त्र सुखी समाज में सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है। समाजवाद ही श्रेणी-नैतिकता तथा मात्स्य-न्याय के बदले जनप्रधान नैतिकता तथा सामाजिक न्याय की स्थापना कर सकता है। समाजवाद ही स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के आधार पर एक सुन्दर, सबल मानव-संस्कृति की सृष्टि कर सकता है।

ऐसी सभ्यता तथा संस्कृति की स्थापना उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करले ही नहीं हो जायगी। इसके लिए पुनर्निर्माण का कार्य ही समुचित रीति से करना होगा। मानव-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए नागरिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की

होगी सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की सृष्टि तभी हो सकती है जब

इसके अतिरिक्त इतने काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गये हैं, उन पर जोर देना, उन्हें समाज के पुनर्निर्माण में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है। इनकी अवहेलना करके सभ्य और सुन्दर सामाजिक जीवन नहीं चलाया जा सकता। श्रेणी-नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार उचित नहीं। समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का निरादर अनुचित होगा। इसके विपरीत पुराने आदर्शों और प्राचीन संस्कृति का अध्ययन आवश्यक है। हमारी नवीन संस्कृति के निर्माण में इनका बहुत बड़ा हाथ होगा।

सत्य की शक्ति

किसान भाइयो ! आप जानते है कि हमारे देश में सत्य की कितनी महिमा है। उपनिषदों मे कहा है कि सत्य की जीत होती है, झूठ की नहीं । जिन लोगों ने सत्य के लिए कष्ट उठाया है उनकी पूजा हम आज भी करते हैं। राजा हरिश्चन्द्र की कथा किसको नहीं मालूम है । उन्होंने सत्य के लिए अपना राज भी दे दिया । कहा है कि सत्य के बराबर तप नहीं है और झूठ के बराबर कोई दूसरा पाप नहीं है। बचपन से ही हमको सिखाया जाता है कि हमको सच बोलना चाहिए, लेकिन केवल सच बोलने से ही आदर्श का पालन नहीं होता । हमको सच की खोज करना चाहिए और चाहे वह अप्रिय क्यों न हो, उसको स्वीकार करना चाहिए ।अगर हम विचार करें तो हमको मालूम होगा कि संसार की उन्नति सत्य के सहारे ही हुई है। पहले आदमी प्रकृति की शक्तियो को ठीक-ठीक समझते न थे, वह नाना रूप मे उनको देखते थे । उनका विचार था कि इनमे भूत-प्रेत रहते हैं। इस कारण वह उनसे डरा करते थे और तरह-तरह की पूजा से उनको प्रसन्न करना चाहते थे। जब तक यह हालत रही, इनसान इन शक्तियो के भेद को न जान सका और इसलिए उनसे लाभ न उठा सका । और जब कुछ लोगों ने इस भेद को जाना और सत्य की घोषणा की तब इनका समाज ने विरोध किया और किसी-किसी की हत्या भी की। आज प्रकृति की इन शक्तियो को हमने अपने वश में कर लिया है और हम इनसे अपना काम लेते हैं। विज्ञान द्वारा मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाई है। विज्ञान द्वारा हम अपनी दरिद्रता को दूर कर सकते हैं और अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं। लेकिन विज्ञान को सुगमता से विजय नहीं मिली है। एक लम्बे अरसे तक उसे स्थिर स्वार्थों से लड़ना पड़ा है। योरोप का इतिहास इसकी सत्यता को सिद्ध करता है। प्रचलित विश्वास का जिसने विरोध किया वही सताया गया। किसी को आग में जला दिया, किसी को सूली पर चढ़ा दिया। इतिहास में कई ऐसे भी आये जब सत्य को दबा दिया गया, कुचल दिया गया। और इसका नतीजा केवल यही हुआ कि सदियों के लिए मनुष्य की तरक्की रुक गई। रोम साम्राज्य के रईस गुलामों से अपना काम लेते थे और जब किसी ने भाप से चलने

वाली एक मशीन निकाली तो उसको चलने नहीं दिया गया। अगर यह मशीन चल जाती तो एक मशीन कई आदमियों का काम करती और इसका नतीजा यह होता कि गुलामों की तिजारत धीरे-धीरे बन्द हो जाती। रोम के रईस इसको कब बर्दाश्त कर सकते थे! बार-बार इतिहास ने यही बताया है कि जब-जब सत्य का स्थिर स्वार्थ से विरोध हुआ है तब-तब अधिकारियों ने उसका विरोध किया है। जिनके हाथ मे शक्ति है, वह ऐसी कोई बात नही होने देना चाहते जिससे उनको आघात पहुँचे। सत्य की बार-बार हार हुई है और जब-जब ऐसा हुआ है तब-तब संसार मे अन्धकार का युग आया है और तरक्की मे रुकावट हुई है। लेकिन अन्त मे सत्य की विजय हुई है। विज्ञान के विकास का इतिहास ऐसी मिसालो से भरा पड़ा है। शुरू मे वैज्ञानिक प्रकृति के भेदो को जानने में लगे थे। इसमे भी अनेक बाधाएँ पड़ी और कितने शहीद हुए। धीरे-धीरे विज्ञान समाज के इतिहास का अध्ययन करने लगा। समाज और धर्म की उन्नति कैसे हुई, इस पर उसने प्रकाश डालना शुरू किया। उसने हमारे जमे हुए विश्वासों को हिला दिया और विश्वास के स्थान में सन्देह पैदा किया। उसकी रोशनी में हमारी पुरानी धारणाएँ नष्ट होने लगी। इससे हमारे दिलों में डर पैदा होने लगा और सत्य को अपनाने का हममें साहस न हुआ। विज्ञान ने धीरे-धीरे जायदाद के सम्बन्धों की छानबीन की और हमको समाज के वर्तमान भेद-भाव, ऊँच-नीच, गरीबी और बेकारी के कारणो को बताया। विज्ञान आज घोषित करता है कि यदि हमको अवसर दिया जाय तो हम समाज की समस्याओं को हल कर सकते है, लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जिनके पास सम्पत्ति और अधिकार है वह अपने स्वार्थ का परित्याग नही करना चाहते और जब तक यह रुकावटें दूर नही होतीं, विज्ञान अपना काम सफलता से नहीं कर सकता। हम एक मिसाल यहाँ देगे। यह सब जानते हैं कि कल-कारखानों के उद्योग-व्यवसाय की तरक्की विज्ञान की मदद से हुई है। आज अमरीका की अथाह दौलत साइंस की बदौलत है। लेकिन अब अवस्था ऐसी आ गई है कि साइंस से वह मदद नहीं ली जाती जो पहले ली गई थी। सन् १९२९ में संसार में मन्दी हुई थी। हमारे देश पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ा था। गल्ला बहुत सस्ता हो गया था और दूसरी चीजें भी काफी सस्ती थीं। कारण यह था कि बाज चीजो की पैदावार आवश्यकता से कहीं ज्यादा हो गई थी। कीमतों के गिर जाने से उद्योगपतियो को बड़ा घाटा हो रहा था, कभी-कभी लागत के दाम भी नहीं आते थे। अमरीका मे खेत के खेत जला दिये गये थे जिससे कीमतें बढ़ें। विज्ञान ने कीमत को सस्ता करने के जो नये उपाय निकाले थे उनसे इसीलिए काम नहीं लिया गया था कि इसी से मुनाफा कम हो जायेगा। आज हम देखते है कि हमारे यहाँ चोरबाजारी कितनी होती है। थोड़े से लोग माल हाथ में रोककर दामो को कितना बढ़ा देते है। अगर इनमे

सत्यता हो तो यह समाज का अपकार न करें। लेकिन स्वार्थ इनको अनीति की ओर ले जाता है। नतीजा यही है कि सत्य सचमुच एक तप है। जो सत्य के आदर्श को मानता है वह सदा सत्य की खोज करता रहेगा और चाहे वह कितना कड़ुवा क्यों न हो, चाहे उसके पुराने विचारों और विश्वासों को उससे कितनी ही चोट क्यों न पहुँचे, वह साहस के साथ और स्थिर स्वार्थों की परवाह न करके, सत्य को ही ग्रहण करेगा। सच और झूठ की लड़ाई बराबर चलती रहती है और चाहे सत्य कभी-कभी हार जावे, अन्त में जीत उसके हाथ रहती है। जर्मनी के नाजियों ने भी सत्य की हत्या की थी और उनका कारोबार कुछ वर्षों बहुत अच्छा चला, लेकिन आज वह हिटलर कहाँ है जिससे संसार काँपता था। आज तो जर्मनी पैरों तले रौंदा जा रहा है। जर्मनी की यह मुसीबत सत्य का आश्रय छोड़ने से हुई। यथार्थ नाजियों का नाश हुआ लेकिन दुःख है कि आज भी सत्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। युद्ध के बाद सदा नैतिक पतन होता है। आज मानो हम सत्य और अहिंसा के आदर्शों को भूले हुए हैं और उसकी प्रतिष्ठा के लिए कोशिश करते हैं। हिंसा का तो मानो बोलबाला ही है। आज आपस में कितना वैर, कितनी घृणा, कितना विद्वेष है।

सारा संसार इस भट्ठी में जल रहा है। राष्ट्रों के गुट बन रहे है। सभ्यता को बरबाद करने वाले अस्त्र तैयार हो रहे हैं। लेकिन इस निराशा में भी आशा की एक क्षीण रेखा है। गीता में कहा है कि थोड़ा भी धर्म बहुत बड़े भय से हमको बचाता है। थोड़े से लोग ही सत्य के लिए आत्मबलिदान करते है और जब तक यह है, हमको निराश होने का कोई कारण नहीं है। मनुष्य गिर-गिरकर उठता है। यही उसका बड़प्पन है।

ईसा और गांधी ऐसे लोग उँगली पर गिने जाने लायक हैं। लेकिन इन्होंने सत्य और प्रेम के बल से संसार में एक नया युग ही उपस्थित कर दिया। ईसा को सूली पर चढ़ना पड़ा, गांधी को गोली खानी पड़ी। किन्तु इस बलिदान ने संसार को हिला दिया। रोम का साम्राज्य न रहा, लेकिन ईसाई धर्म आज भी जीवित है। ईसाई धर्म ने बर्बर जाति के लोगों को भी पालतू बनाया और उनको दया-धर्म की शिक्षा दी। ईसा को सूली पर चढ़ाकर उनके दुश्मनों ने सोचा था कि ईसा का सन्देश जगत् से उठ जायेगा। पर सत्य अत्याचार से और प्रचारित होता है। गांधी को गोली का शिकार कर हत्या करने वाले और उसके साथियों ने सोचा था कि अब हमारा मार्ग निष्कंटक हो जायेगा, लेकिन क्या हमने नहीं देखा कि उस विचारधारा की बढ़ती प्रगति रुक गई। क्या यह नहीं सिद्ध होता कि सत्य की शक्ति बहुत बड़ी है। ईसा को शहीद हुए लगभग २,००० वर्ष हो गये लेकिन आज भी ईसा का पैगाम हमारे दिलों पर असर करता है और उनके मानने वालों की संख्या में कमी नहीं होती। गांधीजी ने जिन्दगी-भर सत्य के प्रयोग किये। उनको

सत्य का बड़ा आग्रह था। इसी से उनका बड़ा प्रभाव था। उनकी वाणी और आचरण में कोई अन्तर न था। जो कहते थे वह करते थे। सत्य के मानने से कभी घबड़ाते न थे। इसीलिए लाखों नर-नारी उनके पीछे चलते थे। उनके पास कोई दूसरी शक्ति न थी। सत्य की शक्ति ने ही ब्रिटिश राज को हिला दिया था और अन्त में उसको भारत छोड़ जाना पड़ा। गांधीजी आज भी जिन्दा हैं। वह पुकार-पुकारकर कहते हैं कि सत्य और अहिंसा के आदर्श पर चलो। आपस में प्रेम करो, सत्य कितना ही अप्रिय क्यों न हो, उसे ग्रहण करो। उनके भाषण का असर जादू-सा होता था लेकिन वह कोई बड़े वक्ता न थे। लेकिन उनके सत्य की भाख्या व्यापक थी। वह केवल अहिंसा का ही उपदेश नहीं देते थे किन्तु हिंसा के कारणों पर भी विचार करते थे और उनको दूर करने की कोशिश करते थे। आज ससार को उनकी शिक्षा की कितनी जरूरत है। जब तक हम सत्य की महिमा को नहीं समझेंगे और तरह-तरह के कष्ट उठाकर भी उस रास्ते पर न चलेंगे तब तक हमारा कल्याण नहीं होगा। निर्भय होकर सत्य की प्रतिष्ठा कीजिये, आपस में समानता और प्रेम का व्यवहार कीजिये, मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए कोशिश कीजिये और साम्प्रदायिकता से ऊपर उठिये। यही गांधीजी का उपदेश है। यही अमिट सत्य है। इस सत्य की पूजा ही गांधीजी की सच्ची पूजा है। सत्य की अमोघ शक्ति से अनुप्राणित होकर अपने देश और संसार के कल्याण के लिए आगे बढ़िये।

सविनय अवज्ञा

पूर्व इसके कि गांधीजी राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, कांग्रेस के आन्दोलन का प्रचार वैधानिक था। सभा करके प्रस्ताव पास करना, गवर्नमेण्ट के पास डेपुटेशन ले जाना, आन्दोलन और प्रचार द्वारा लोकमत को तैयार करना और इस प्रकार गवर्नमेण्ट पर दबाव डालना, इन्हीं सब उपायों का आश्रय लेकर कांग्रेस अपने राजनीतिक ध्येय को प्राप्त करना चाहती थी। यह सबको मालूम है कि कांग्रेस की स्थापना ह्यू म साहब के सक्रिय सहयोग से और अवकाशप्राप्त ऐंग्लो-इण्डियनों का आशीर्वाद प्राप्त करके हुई थी। उस पीढ़ी के अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों का ईमानदारी के साथ विश्वास था कि भारत का इंग्लिस्तान से सम्बन्ध ईश्वर की प्रेरणा से भारतीयों के कल्याण के लिए हुआ है। इस विश्वास के कई कारण थे। यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक होगा। यह विश्वास धीरे-धीरे डिगने लगा और जापान की विजय ने एशियावासियों को एक नई प्रेरणा दी। कांग्रेस के भीतर एक नए दल की सृष्टि हुई। इसने पूर्ण स्वतन्त्रता का ध्येय देश-वासियों के सम्मुख रक्खा। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए इसने प्रमुखापेक्षा होने के स्थान में स्वावलम्बन की नीति को अपनाया। पुरानी अनुनय-विनय की नीति को यह 'भिक्षां देहि' की नीति कहते थे। यह ब्रिटिश शासन से असहयोग करना चाहते थे। स्वदेशी और बहिष्कार इनके मुख्य अस्त्र थे। यह जानते थे कि भारतीय ही अंग्रेजी शासन चला रहे हैं और अंग्रेजी शासन का मुख्य उद्देश्य भारतीय व्यापार को अधिकृत करना था। अतः यह आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहते थे और अंग्रेजी माल के व्यापार को नष्ट कर यह स्वराज्य देने के लिए अंग्रेजों को समझौते के लिए विवश करना चाहते थे। निष्क्रिय प्रतिरोध भी इनके कार्यक्रम में था। सुअवसर आने पर यह कानून की अवज्ञा करने के पक्ष में थे। स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन बंगाल में प्रबल वेग से चला। पूर्वी बंगाल में छोटे पैमाने पर शासन से असहयोग भी किया गया। किन्तु दमन-चक्र इतनी तेजी से चला कि सारे आन्दोलन का प्रसार न हो सका। सूरत में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये और नया दल कांग्रेस से पृथक् हो गया। पृथक् होने के पश्चात इस दल का दमन

और भी तीव्र हो गया। जब प्रकाश रूप से नवयुवकों को आन्दोलन करने का अवसर न मिला तो दमन की प्रतिक्रिया के स्वरूप में विप्लववाद ने जोर पकड़ा। कांग्रेस के कार्य करने के ढंग में कोई परिवर्तन न हुआ। अतः सामान्यजन पर कांग्रेस का प्रभाव क्षरिग होता गया और जब तक सन् १९१६ में कांग्रेस में दोनो दलों का फिर से मेल न हुआ तब तक यही अवस्था बनी रही। षड्यन्त्रकारियो के दलों की सृष्टि होने लगी।

प्रथम महायुद्ध के समय यह दल बहुत सक्रिय हो गये। सेना की सहायता से सशस्त्र क्रान्ति करना इनका उद्देश्य था। डकैती करके यह धन-संग्रह करते थे। युद्धकालीन षड्यन्त्र विफल हुआ और कितने नवयुवकों को फाँसी दी गई या काले पानी का दण्ड दिया गया। अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि अनुनय-विनय और विप्लव यह दोनों प्रकार व्यर्थ हैं। विप्लव के यह प्रयत्न नवयुवकों तक ही सीमित थे। सिपाही-विद्रोह का उदाहरण इनके सामने था। उसी का यह अनुकरण करना चाहते थे। सामान्यजन को संगठित करना और उनको आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए निमन्त्रित करना इनके कार्यक्रम में न था। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक जीवन क्षीण हो गया। सन् १९१६ से कांग्रेस का प्रभाव फिर बढ़ने लगा, किन्तु कार्य की पद्धति प्रभावशाली न थी और इसलिए प्रचार के अतिरिक्त कोई ठोस काम न हो सका। महायुद्ध के समाप्त होने पर एशिया के देशो मे अशान्ति बढ़ गयी थी और कांग्रेस के प्रभाव बढ़ने का भी यही कारण था। कांग्रेस मे गरम दल भी था, किन्तु तीव्र प्रचार के अतिरिक्त इनके पास भी कोई कार्यक्रम न था। युद्ध के बोझ से जनता के कष्ट बढ़ गये थे। जनता संघर्ष करना चाहती थी, किन्तु एक प्रभावशाली कार्यक्रम के अभाव में जननायक जनता के असन्तोष से उचित लाभ न उठा सके।

इस बीच में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से लौटे। वहाँ उन्होंने सत्याग्रह के अस्त्र का सफल प्रयोग किया था। सत्याग्रह का ही दूसरा नाम सविनय अवज्ञा है अर्थात् उन कानूनों की अवहेलना करना जो अनैतिक और न्यायसंगत नहीं है। जब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका मे थे तब उन पर टालसटाय और थोरो का प्रभाव पड़ा था। इन्हीं के लेखों से उनको सविनय अवज्ञा का महत्त्व मालूम पड़ा था। टालसटाय से उनका पत्र-व्यवहार भी हुआ था। अंग्रेजी में इसे 'पैसिव रेज़िस्टेंस' भी कहते हैं। किन्तु यह नाम गांधीजी को पसन्द न था। उनका कहना था कि सविनय अवज्ञा निष्क्रिय नहीं है। वह सक्रिय है। गांधीजी अहिंसा के समर्थक थे। किसी भी अवस्था में वह हिंसा नहीं करना चाहते थे। किन्तु यह भी नहीं था कि वह अत्याचार और अनाचार को चुपचाप सहन कर लेते। उनकी अहिंसा पुराने धार्मिक नेताओं की अहिंसा की तरह निष्क्रिय न थी। वह अत्याचार का अहिंसक ढग से अवश्य प्रतिकार करना चाहते थे। अन्याय को सहन करना वह आत्म

सम्मान के विरुद्ध मानते थे और उसे मानवता का हनन समझते थे। उनका यह भी विचार था कि जो अत्याचार का विरोध नहीं करता, वह स्वयं उसके लिए उत्तरदायी हो जाता है। व्यक्तियों पर होने वाले अत्याचार का ही वह इस प्रकार विरोध नहीं करते थे किन्तु समुदाय पर होने वाले अत्याचार का भी विरोध इसी अस्त्र का प्रयोग कर करना चाहते थे। किन्तु इसमें एक अड़चन यह थी कि कानून के तोड़ने से मर्यादा के नष्ट होने का भय था। समाज के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक कानून का आदर करें। यदि कानून का आदर उठ जाय तो समाज विशृंखल हो जायेगा। थोड़ा-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि कभी-कभी ऐसे भी कानून बनते हैं जो न्यायोचित नहीं हैं। यदि कोई कानून नागरिक अधिकारों को बिना पर्याप्त कारण के आघात पहुँचावे तो उनकी अवज्ञा करना नागरिक का कर्तव्य हो जाता है। एक ओर मर्यादा की रक्षा करना है। गांधीजी ने इस समस्या का हल यह निकाला कि केवल अनैतिक कानून की ही अवहेलना हो सकती है और वही इस अस्त्र का प्रयोग कर सकता है जो साधारणत. कानून का आदर करता है। जो समाज के विरोधी हैं, उनको यह अधिकार नहीं है।

निरोध का यह प्रकार नैतिकता और मानवता का है। समाज का अस्तित्व नैतिकता और सदाचार पर निर्भर है। समाज मे यदि अराजकता फैल जावे, यदि जगल का कानून प्रचलित हो जाय तो समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। यही कारण है कि साधारण लोग कानून का आदर करते हैं और एक-दूसरे के अधिकार पर आक्रमण नहीं करते। किन्तु थोडे लोग अनाचारी होते है, वह समाज-विरोधी काम करते हैं। इसके सामाजिक, आर्थिक और पैतृक कारण हैं। जब समाज में घोर असमानता उत्पन्न होती है और आर्थिक कष्ट मे वृद्धि होती है तो अपराध में भी वृद्धि होती है। कोई-कोई अपराधी वंशानुगत कारणों से ऐसा होता है। इन थोड़े से लोगों के लिए दण्ड का विधान होता है। दण्ड के भय से वह लोग भी अपराध से विरत रहते हैं जो कदाचित् अन्य अपराध करते। दण्ड और पुलिस का विधान इसी आधार पर होता है कि समाज का एक छोटा भाग ही अपराध करता है। यदि सभी अशान्तिप्रिय होते तो उनका नियन्त्रण करने के लिए इतनी पुलिस कहाँ से आती। न्याय और शान्ति का भाव ही प्रमाणतः समाज की रक्षा करता है। प्रत्येक मनुष्य में प्रायः कुछ-न-कुछ नैतिकता का भाव होता है। लोकापवाद से प्रायः सब लोग डरते हैं। सब चाहते हैं कि दूसरे उन्हें अच्छा समझें। जब कोई व्यक्ति अकारण दूसरे पर अत्याचार करता है और वह दूसरा बदला न लेकर सात्त्विक क्रोध प्रकट करता है तो इसके दो परिणाम होते है। यदि वह प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर अत्याचार का पशु भाव और भी प्रबल हो जाता। नैतिकता को अवकाश देने के लिए उस में भी नैतिकता नहीं जगती है

जब अत्याचार का जवाब अत्याचार से न दिया जाय। उस अवस्था में भी नैतिकता नहीं जागती है जब अत्याचार को कायरता के कारण चुपचाप सह लिया जाता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति बदला लिए बिना अत्याचारी पर यह प्रकट कर देता है कि वह उस पर अत्याचार भी नहीं करेगा और साथ-साथ कायरता भी नहीं दिखावेगा तब अत्याचारी अपने ऊपर लज्जा प्रदर्शित करता है। उस पर यह प्रभाव इस कारण पड़ता है क्योंकि वह यह आशा नहीं करता था कि जिस पर उसने अत्याचार किया है वह इस प्रकार शिष्टता का व्यवहार करेगा। साधारणतः अत्याचार पशुभाव को जगाता है और इसीलिए साधारण व्यवहार में देखा जाता है कि लोग अत्याचार का जवाब अत्याचार से देते हैं।

दूसरा परिणाम यह होता है कि जब दूसरे देखते है कि यह व्यक्ति बदला न लेकर शान्त भाव से अत्याचार का विरोध मानवता के आधार पर करता है और अत्याचारी का अपकार न कर स्वयं कष्ट सहन करता है तो वह अत्याचारी पर रोष प्रकट करते हैं और उसको धिक्कारते है। कभी-कभी वह उसका पक्ष लेकर अत्याचारी को स्वयं दण्ड देते हैं। यह देखकर अत्याचारी को अवसाद और ग्लानि उत्पन्न होती है। जो क्रोध के स्वयं वशीभूत नहीं होता, उसके साथ यदि कोई अन्याय करता है तो दूसरे उस क्रोध को अपना लेते हैं और अन्याय का विरोध करने लगते हैं।

मानव-प्रकृति के इस विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि सविनय अवज्ञा मे क्यों एक अपूर्व शक्ति है। यह शक्ति नैतिक है। जब चम्पारन मे गांधीजी ने मैजिस्ट्रेट की आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया तब बिहार की गवर्नमेंट घबरा गयी। यह पहला ही अवसर था कि किसी ने ऐसा किया हो। जिस प्रकार युद्ध में यदि कोई सेना शत्रु के विरुद्ध एक अपरिचित अस्त्र का प्रयोग करे तो शत्रु हतप्रभ होकर घबरा जाता है और उसके नैतिक बल का ह्रास होता है, उसी प्रकार सविनय अवज्ञा करने वाला अत्याकारी या शासक को हतप्रभ कर देता है और वह हतबुद्धि हो जाता है। युद्ध में भी सैनिकों का नैतिक बल अन्तिम निर्णय कराने मे हाथ रखता है। धीरे-धीरे शासक इस अस्त्र से परिचित हो जाते हैं और उसका मुकाबला करने के लिए तैयारी करते हैं। किन्तु यदि अस्त्र का प्रयोग करने वाला चरित्रवान् होता है और उसका पक्ष न्यायसंगत होता है तो यह अस्त्र अपना काम करने में चूकता नहीं है।

इस अस्त्र के सफल प्रयोग के लिए कुछ शर्तें अनिवार्य है। प्रयोक्ता का पक्ष न्याय पर आश्रित होना चाहिए, प्रयोक्ता को सच्चरित्र होना चाहिए और प्रचार द्वारा जनता को बता देना चाहिए कि उसका पक्ष न्यायसंगत है। यदि सामूहिक रूप से सविनय अवज्ञा होता है तो कम-से-कम आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों मे यह गुण होने चाहिए। यदि प्रयोक्ता एक ऐसा व्यक्ति है जिसका समाज पर

अच्छा प्रभाव है तो सफलता की सम्भावना और भी बढ जाती है। हरिजन के प्रश्न को लेकर गांधीजी ने अकेले ब्रिटिश साम्राज्य को हिला दिया था और अपना पुराना निर्णय बदलने के लिए उसे बाध्य किया था। जिस प्रश्न को लेकर सत्याग्रह किया जाय उसमें असत्य का आश्रय न लेना चाहिए अन्यथा भेद खुल जाने पर सहानुभूति जाती रहती है। इसी कारण गांधीजी अच्छी तरह जाँच करके ही किसी मामले को हाथ में लेते थे। यह भी आवश्यक है कि पूर्व इसके कि सविनय अवज्ञा की जाय दूसरे संवैधानिक उपायों से काम लेना चाहिए, जब उनसे काम न चले तभी सत्याग्रह आरम्भ करना चाहिए। सविनय अवज्ञा आत्म-रक्षा के लिए है और जब जनता पर यह प्रभाव पड़ता है कि सत्याग्रही निरुपाय होकर ही अपने बचाव के लिए इस अस्त्र का प्रयोग करता है तब जनता की सहानुभूति और भी बढ जाती है। जब अन्य उपायों से काम निकलता है तब तीव्र प्रयोग क्यों किया जाय !

गांधीजी ने सत्याग्रह के अनेक प्रयोग किये और उनको प्रायः सफलता मिली। कभी-कभी उन्हें अनशन भी करना पड़ा। किन्तु यह आत्मशुद्धि या स्वजनों के विरुद्ध होते थे। गांधीजी सबको अनशन करने की अनुमति नहीं देते थे। इसका प्रयोग जितना कम किया जाय उतना ही अच्छा है। किसी विशेष अवस्था में ही इसकी अनुमति देनी चाहिए।

गांधीजी द्वारा कांग्रेस को यह एक नया अस्त्र मिला। आर्थिक प्रश्नों को लेकर भी इसका प्रयोग किया गया। इसके द्वारा जनता की राजनीतिक चेतना बढी और निराशा तथा अकर्मण्यता का वातावरण दूर होने लगा।

चम्पारन में गांधीजी को विजय मिली। निलहे साहबों का किसानों पर अत्याचार बन्द हुआ और वह अपनी कोठियाँ और जमीन बेचकर जाने लगे। गांधीजी की लोकप्रियता बढ़ने लगी और उसी समय से वह बिहार के किसानों के देवता हो गये। इस तरह के कई स्थानीय सत्याग्रह गांधीजी ने सफलता के साथ चलाये। सन् १९२० मे खेड़ा (गुजरात प्रान्त) जिले के किसानों की फसल नष्ट हो गयी थी और गांधीजी ने गुजरात सभा की ओर से लगान माफ करने का आन्दोलन आरम्भ किया और किसानों को लगान न अदा करने का आदेश दिया। अन्त में गवर्नमेण्ट से समझौता हो गया। जो जमीनें जब्त की गयी थीं, वापस कर दी गयीं। चम्पारन में किसानों को सत्याग्रह नहीं करना पड़ा था किन्तु खेड़ा में बड़े पैमाने पर किसानों ने लगानबन्दी की और जमीनों के जब्त होने पर भी शान्त रहे। इसी प्रकार गांधीजी के आदेश से अहमदाबाद के मिल मजदूरों ने दो बार हड़ताल की और अन्त में समझौता हो गया। एक बार गांधीजी ने उनके लिए अनशन भी किया था। सन् १९२८ का बारडोली सत्याग्रह प्रसिद्ध है। वहाँ **जमीन के बन्दोबस्त का प्रश्न था** इस सत्याग्रह ने सारे संसार की दृष्टि आकृष्ट

की। अन्त में गवर्नमेण्ट को गांधीजी की माँग स्वीकार करनी पड़ी।

गांधीजी की यह सबसे बड़ी देन थी। सत्याग्रह हमारे देश मे लोकप्रिय हो गया है। सभी राजनीतिक दल इस अस्त्र का समय-समय पर प्रयोग करते है। गांधीजी इसे अमोघ अस्त्र समझते थे। उनका मत था कि इससे विरोधी का हृदय-परिवर्तन होता है। मानव जाति में उनका बड़ा विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि नीच से नीच पुरुष का भी सुधार हो सकता है। प्रतिशोध की भावना से वैर शान्त नहीं होता है और जिस क्रम का एक बार आरम्भ होता है उसका अन्त नही दीखता।

गांधीजी सत्याग्रह द्वारा बाहर के आक्रमण से देश की रक्षा करने के पक्ष मे थे। किन्तु इसकी सफलता में सहसा विश्वास नही होता और न आज तक किसी ने इस प्रयोग को सफल करके दिखाया है।

विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए युद्धों का अन्त होना चाहिए। हिंसा द्वारा शान्ति की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। दो महायुद्ध हो चुके हैं और तीसरे का श्रीगणेश हो रहा है। यह क्रम कब तक जारी रहेगा! यदि एक विश्व-व्यापी युद्ध और हुआ तो सभ्यता का ही विनाश हो सकता है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि अन्याय के आधार पर विश्व-शान्ति नही स्थापित हो सकती। यदि स्वेच्छा से लोग न्याय न करें तो उपाय न्याय पाने का होना चाहिए। सत्याग्रह ही इसका उपाय है। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर नहीं है। उसके स्थान मे जगल का कानून प्रचलित है। नैतिकता का ह्रास हो रहा है। विकृत रूप की राष्ट्रीयता राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सौहार्द नहीं स्थापित होने देती। जब तक लोग एक विश्व का दर्शन नही करेंगे और यह नहीं समझेंगे कि सबकी रक्षा में ही प्रत्येक की रक्षा है तब तक विश्व में अशान्ति बनी रहेगी और युद्ध निरन्तर होते रहेंगे। नैतिकता का स्तर ऊँचा करके ही हम संसार को नष्ट होने से बचा सकते हैं। सत्याग्रह की विशेषता यह है कि यह एक नैतिक अस्त्र है और अन्याय का मुकाबला करने की अपने मे सामर्थ्य रखता है। सत्याग्रह दोनों पक्ष का उपकार करता है। सत्याग्रही का नैतिक बल बढ़ता है और जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग होता है उसका यह उपकार नही करता वरन उसको यह एक महान भय से बचाता है।

साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता

राष्ट्रीयता और जनतन्त्र इन दो शक्तियों ने एशिया के सब देशों में जन-जागरण किया है। इन्हीं दो शक्तियों के कारण एशियावासियों में साम्राज्यवाद का सफल विरोध करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हुई है। इन्हीं के वरद हस्त का सहारा लेकर भारत स्वतन्त्र हुआ है। यही शक्तियाँ उन्मुक्त न होतीं और हमको प्रभावित न करतीं तो हमारी निष्कर्मण्यता और हमारे सम्मोह का अन्त न होता और विविध जातों और धार्मिक सम्प्रदाओं में बँटा हुआ हमारा देश एक सूत्र में ग्रथित होकर और एक समान भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्न न करता। इन शक्तियों का प्रादुर्भाव और विकास कैसे हुआ, इस विषय पर विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। हमको इन शक्तियों के स्वरूप और लक्षणों को जानना चाहिए और यह समझना चाहिए कि यह शक्तियाँ आज भी काम कर रही हैं और यदि हमको जीवन और विकास की ओर बढ़ना है तो हमको इनकी आज भी आवश्यकता है। इन शक्तियों की उपेक्षा कर हम अपने में कसने वाले सभी लोग, अपनी-अपनी जात, अपनी-अपनी बिरादरी और अपने-अपने सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सबके साथ समान रूप से एकता का अनुभव करते हैं और राष्ट्रीय प्रश्नों पर राष्ट्रीय दृष्टि से, न कि अपनी बिरादरियों, अपने सम्प्रदाय की संकुचित दृष्टि से, विचार करते हैं। एकता के जिस कार्य को वंश या धर्म बिरादरियों और सम्प्रदायों में सिद्ध करता है, राज्य की भौगोलिक सीमा के भीतर वही कार्य राष्ट्रीयता सम्पन्न करती है। किन्तु पर-कार्य तभी पूरा हो सकता है जब हम बिरादरी और सम्प्रदाय की क्षुद्र ग्रन्थि से ऊपर उठना सीखें। भारत को एक सुदृढ़ राष्ट्र में गठित करने के लिए यह आवश्यक है कि जो प्रतिगामी भाव और शक्तियाँ हमको जात-पाँत और सम्प्रदाय के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करती हैं और हमारी शक्ति को बिखेरती हैं उनका हम तीव्र विरोध करें। यही शक्तियाँ अवसर पाकर हमको छिन्न-भिन्न कर देने का प्रयत्न करती हैं। युग की नवीन शक्तियों ने इन पर अभी पूर्ण विजय नहीं प्राप्त की है क्योंकि नवीन भावों ने हम सबके हृदय और मस्तिष्क को अभी पूर्ण रूप से व्याप्त नहीं किया है। इस साम्प्रदायिक अवैध के

कारण हमारे देश के दो टुकड़े हुए और यदि हम राष्ट्रीयता को पूर्ण रूप से अपनाते नहीं तो देश इसी प्रकार बँटता चला जायेगा। पूर्वी पंजाब में आज मुसलमान शून्य के बराबर हैं किन्तु वहाँ हिन्दू-सिख प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। दक्षिण मे ब्राह्मण-अब्राह्मण प्रश्न है और द्रविडस्थान की माँग भी हमारे सामने आ गयी है। हमने पाकिस्तान की माँग का मजाक किया और अपने मन को यह कहकर ढाढ़स दी कि इस माँग में कुछ दम नही है और श्री जिन्ना अंग्रेजों का एजेंट मात्र है। किन्तु वह माँग पूर्ण होकर रही। इसी प्रकार द्रविडस्थान की माँग की उपेक्षा करना मूर्खता होगा। आज आपको यह माँग सारहीन मालूम पड़ती है किन्तु यदि हमने समय से इसके आधार को निर्मूल नहीं किया और उत्तर और दक्षिण के बीच वास्तविक सौहार्द स्थापित नहीं किया तो यही माँग एक दिन भीषण रूप धारण कर लेगी। इन सबके मूल में हमारी संकीर्णता, जात-पाँत का भेदभाव और हमारी साम्प्रदायिक बुद्धि काम करती है। राष्ट्र-संगठन के कार्य में यही संकुचित भाव बार-बार वाधा डालता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था का आधार असमानता रहा है और इसी कारण हमारे देश में जनतन्त्र पनप नहीं पाता तथा राष्ट्रीयता सबल और पुष्ट नहीं हो पाती। हमको समझ लेना चाहिए कि जब तक हम इन छोटी-छोटी दीवारों को गिरा नहीं देते जो हमको एक-दूसरे से अलग करती हैं तथा जात-पाँत के तारतम्य को हटाकर और धर्म को अपनी उचित मर्यादा मे सीमित रखकर सच्ची राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की ओर अग्रसर नहीं होते तब तक हमारा भविष्य अन्धकार से आच्छन्न है। प्रत्येक को धार्मिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, जहाँ तक वह सामाजिक शान्ति और नैतिकता के प्रतिकूल नही है किन्तु उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध न होना चाहिए। धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु है। वह राष्ट्र के कार्य में बाधक क्यों हो; और वह धर्म धर्म ही क्या है जो दया और न्याय पर आश्रित नहीं है, जो आततायियों से दुर्बलों की रक्षा नही करता। किन्तु वास्तविकता यह है कि धर्म का लोग राजनीति के लिए उपयोग करते हैं और जनता की साम्प्रदायिक बुद्धि होने के कारण जनता इन लोगों के हाथ में खेलती है। राज्य को किसी धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए किन्तु ऐसे उपाय अवश्य सोचने चाहिए जो इस साम्प्रदायिक बुद्धि को विनष्ट करने में समर्थ हो।

केवल यह उपदेश देना पर्याप्त नहीं है कि हिन्दू-मुसलमान-सिख आदि को परस्पर प्रेम से रहना चाहिए। हमको अपनी दुर्बलता के कारण ढूंढ़ने चाहिए और उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समय एक ऐसे उदार सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है जो हमारे दूषित मन को विशुद्ध करे और ुग के अनुकूल हममें नये संस्कार सम्पन्न कर हमको उदार बुद्धि प्रदान करे। ,न्म ——— के संचित कुसंस्कारों को विनष्ट करने के लिए कोई एक उपाय

पर्याप्त नहीं होगा। साम्प्रदायिक बुद्धि को विनष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि वह, जिनका धर्म से सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, कानून से निश्चित हों। उदाहरण के लिए, मुस्लिम कानून के भेद मिटा देने चाहिए। इसी प्रकार हम धीरे-धीरे आचार की समानता और एकरूपता ला सकेंगे और आचार की विविधता को बहुत कुछ घटा सकेंगे। और भी कई उपाय हैं जिन पर विचार किया जा सकता है। किन्तु सबका आधार यही है कि सबकी ऐसी शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिए जिससे आचार की एकरूपता सिद्ध हो और सब राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के महत्त्व को समझें और उनके अनुकूल अपने आचरण को बनायें। इस दृष्टि से नई पीढ़ी पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारे नवयुवकों के ज्ञान का विस्तार होना चाहिए। उनकी जानकारी हर दिशा में बढ़नी चाहिए। जब वह अपनी आँखों के सामने बनते हुए इतिहास का ठीक प्रकार अध्ययन करेंगे और उन शक्तियों को पहचानेंगे जो आज नये समाज का निर्माण कर रही हैं और धीरे-धीरे सकल जगत् को एक कर रही हैं तब उनकी संकीर्णता दूर होगी और उनकी दृष्टि व्यापक और उदार होगी। इस सामाजिक जागरूकता और चैतन्य की अत्यन्त आवश्यकता है और जितनी मात्रा मे इसकी वृद्धि होगी उतनी मात्रा मे हमारे नवयुवक नवनिर्माण के कार्य मे परिशोधित बुद्धि से कार्य करेगे। नैतिकता की शिक्षा देने से ही सद्बुद्धि और सदाचरण की वृद्धि नहीं होगी। जब जीवन का एक लक्ष्य निश्चित होगा, जब उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लगन उत्पन्न होगी, तब चरित्र आप ही एक नये साँचे में ढलने लगेगा। साथ-ही-साथ जनसाधारण के ज्ञान के स्तर को विस्तृत करना होगा। यह काम रेडियो द्वारा यदि होगा, तो प्रौढ़ शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान होगा। जनतंत्र जीवन का एक ढंग है। हम इसके अभ्यस्त नहीं हैं। हमारी समाज-व्यवस्था इसमें बाधक है। इसका भी बदलाव होगा। यह सब काम अत्यन्त आवश्यक हैं और जब तक यह मौलिक कार्य नही होते तब तक हमारी उन्नति नहीं होगी।

हमको यह नहीं देखना है कि दूसरे क्या करते हैं; प्रतिशोध और विद्वेष की भावना से किया हुआ काम कभी ठीक नहीं होता। हमको अपना लाभ देखना है और अपने सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करनी है। मैं निःसंकोच कहना चाहता हूँ कि यदि हमने अपनी साम्प्रदायिक बुद्धि का परित्याग नहीं किया और जात-पाँत के भेद-भाव को मिटाया नही तो हम आगे नही बढ़ सकेंगे। सबल राष्ट्र तभी बन सकेगा जब भारत के भीतर रहने वाले सभी लोग, बिला लिहाज धर्म, सम्प्रदाय, प्रान्त और जात के, भारतीय समाज के निर्माण में परस्पर सहयोग करेंगे और एक-दूसरे के साथ एक देश के नागरिक होने के नाते समानता और स्नेह का व्यवहार करेगे। हमको राष्ट्रीय प्रश्नों पर राष्ट्र के हित की दृष्टि से विचार करना चाहिए और अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को तिलांजलि देनी चाहिए

यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि साम्प्रदायिक एकता की कितनी आवश्यकता है। परस्पर का विद्वेष बन्द होना चाहिए और सबके हितो की रक्षा होनी चाहिए और प्रत्येक को इस प्रकार आचरण करना चाहिए जिसमे वह दूसरों का विश्वासपात्र बन सके। आज का अविश्वास और सन्देह का वातावरण घातक है। यदि इसे दूर नही किया गया तो यह रोग सक्रामक हो सकता है। इसका इलाज जल्द होना चाहिए और इलाज वही है जो ऊपर बताया गया है। यह सकोच का युग नहीं है। यह अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। इस युग मे सकीर्ण भावों को पनपने देना आम-विनाश को निमंत्रण देना है और युगधर्म की अवहेलना करना है। युग की अन्तरात्मा उदारता चाहती है और मानव को मानवता से पृथक् करने के जितने प्रकार चले आ रहे है उनका ध्वंस चाहती है। यह कार्य होकर रहेगा। प्रतिगामी शक्तियाँ कही-कहीं कुछ काल के लिए विजयी हो जायें किन्तु अन्त में मानव-धर्म की विजय होगी। जो व्यक्ति और समूह समाज का विकास चाहते हैं और समझते है कि मानव-मात्र का कल्याण इसी मे है कि युग की माँग का समर्थन किया जाय उन सबको साम्प्रदायिक विद्वेष को शान्त करने के लिए समवेत चेष्टा करनी चाहिए।

सत्य की शक्ति', 'सविनय अवज्ञा' और साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता' ॰षक निबन्ध रेडियोवार्त्तायें हैं

खण्ड दो

साहित्य

संस्कृत वाङ्मय का महत्त्व और उसकी शिक्षा
बौद्ध संस्कृत-साहित्य का इतिहास
राष्ट्रभाषा के विकास का दायित्व
प्रगतिशील साहित्य

संस्कृत वाङ्मय का महत्त्व और उसकी शिक्षा*

माननीय सभापति महोदय, माननीय शिक्षा-सचिव जी, श्रीमान कुलपति जी, विद्वद्वृन्द, स्नातक बन्धुओ, तथा देवियो और सज्जनो,

आपने उपाधि-वितरणोत्सव के शुभ अवसर पर दीक्षान्त भाषण के लिए निमन्त्रित कर मुझे गौरवान्वित किया है। इस कृपा के लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

काशी भारत का सबसे प्राचीन नगर और विद्यापीठ है। इसकी शिक्षा की परम्परा अक्षुण्ण रही है और यह सदा से भारतीय संस्कृति और संस्कृत विद्या का प्रधान केन्द्र रहा है। आज भी इसका सारे देश में आदर है। काशी के इस संस्कृत महाविद्यालय ने विशेष रूप से प्रसिद्धि प्राप्त की है। इस विद्यालय को अनेक प्राच्य और प्रतीच्य विद्वानों ने सुशोभित किया है और यह उन्हीं की प्रकाण्ड विद्वत्ता और साधन का फल है कि इस विद्यालय की कीर्ति समस्त भारतवर्ष में फैल गयी है। स्थापना के आरम्भकाल से ही इस संस्था का एक उद्देश्य संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह करना भी रहा है और इस उद्देश्य में इसको विशेष रूप से सफलता मिली है। डाक्टर वेनिस के उद्योग से सन् १९१४ में ग्रन्थागार के लिए सरस्वती भवन की स्थापना हुई थी और यह हर्ष का विषय है कि इस पुस्तकालय में हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की संख्या ५०,००० से अधिक है। यह संग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय है और सरस्वती भवन से जो ग्रन्थमाला प्रकाशित होती है उसमें अब तक इस संग्रह के दो सौ उपादेय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ कि मैंने इस विद्यालय के प्रिंसिपल डाक्टर वेनिस, पं० केशव शास्त्री और प्रो० नार्मन से संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा पुरातत्त्व की शिक्षा प्राप्त की थी तथा इस महाविद्यालय के गोलोकवासी म० म० श्री राम शास्त्री तैलंग और पं० जीवनाथ मिश्र से अलंकार शास्त्र तथा न्याय का अध्ययन भी किया था। भारतीय संस्कृति और प्राचीन इतिहास के प्रति जो मेरी श्रद्धा थी

---

* जनवाणी, फरवरी, १९४९

वही मुझको यहाँ खींच लायी थी। उस काल का स्मरण कर मुझे आज भी अपूर्व आनन्द होता है क्योंकि इन विद्वानों के चरणों में बैठकर मैंने अपनी प्राचीन संस्कृति का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया था और आधुनिक आलोचना और अन्वेषण के प्रकार का अध्ययन किया था। जो व्यक्ति अपनी ज्ञान-परम्परा तथा अतीत के इतिहास का ज्ञान नहीं रखता वह सभ्य और शिष्ट नहीं कहला सकता, क्योंकि वर्तमान का मूल अतीत में है और बिना उसको जाने वर्तमानकाल के सामाजिक जीवन में बुद्धिपूर्वक सहयोग करना कठिन है। अतः मैं इस संस्था का अत्यन्त ऋणी हूँ। एक और दृष्टि से भी उन दिनों की स्मृति बड़ी मधुर है। जो विदेशी विद्वान् यहाँ अध्यापन का कार्य करते थे, वह संस्कृत विद्या के परम अनुरागी थे और उन्होंने इस महाविद्यालय के पण्डितों से प्राचीन शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। इस कारण यहाँ का वातावरण अन्य विद्यालयों से सर्वथा भिन्न था।

वह प्रसन्नता का विषय है कि प्रान्त की गवर्नमेण्ट ने इस विद्यालय को संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप देने का निश्चय किया है। अब समय आ गया है कि इस संस्था का लक्ष्य अधिक व्यापक और समय के अनुरूप बनाया जावे। भारतीय और प्रतीच्य विद्वानों के सहयोग से संस्कृत वाङ्मय का उद्धार हो रहा है। इस शुभ कार्य का श्रीगणेश यूरोपीय विद्वानों ने किया था। किन्तु गत ३० वर्षों में भारतीय विद्वानों ने अपूर्व उत्साह और लगन से अन्वेषण और शोध के कार्य में विशिष्ट भाग लिया है। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ राष्ट्रीय आधार पर सांस्कृतिक जीवन को आश्रित करने का भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है और भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य शिक्षा द्वारा अन्वेषण की वैज्ञानिक पद्धति को सीखकर साहित्य, भाषा, धर्म तथा सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन किया है।

आज भी इस कार्य में यूरोपीय विद्वान् अपना दान दे रहे हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्र होने पर हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। हमारा कर्तव्य है कि संस्कृत विद्या के अध्ययन को हम पाठ्यक्रम में विशिष्ट स्थान दें और अन्वेषण के कार्य को प्रोत्साहन दें। आधुनिक युग के दो महापुरुषों के कारण तथा अपनी प्राचीन संस्कृति के कारण हमारा संसार में आदर है। यह खेद का विषय होगा यदि हम इस आवश्यक कर्तव्य की ओर उचित ध्यान न दें और संस्कृत वाङ्मय की रक्षा और वृद्धि के प्रति उदासीनता दिखायें। संस्कृत वाङ्मय आदर और गौरव की वस्तु है और उसका विस्तार और गाम्भीर्य हमें चकित कर देता है। हमको उसका उचित गर्व होना चाहिए। संस्कृत संसार की सबसे प्राचीन आर्य भाषा है जिसका वाङ्मय आज भी विद्यमान है। ऋग्वेद हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। रामायण और महाभारत संसार के अनुपम और बेजोड़ काव्य हैं। यही

हमारी संस्कृति की मूलभित्ति है। अनेक नाटक और काव्यों की सामग्री इन्हीं ग्रन्थों से उपलब्ध हुई है। महाभारत वेद के समान पवित्र माना जाता है। (इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्) महाभारत हमारी प्राचीन संस्कृति का भण्डार है। इसमें प्राचीन आचार-विचार, रीति-नीति, आदर्श और संस्थाओं का इतिहास उपनिबद्ध है। यह दर्पण के समान है जिसमें प्राचीन भारत का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। काल की दृष्टि से रामायण एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसलिए वाल्मीकि को आदिकवि कहते हैं। इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण है और यह उत्तम काव्य का प्रतिमान समझा जाता है।

इसी कारण रामायण और महाभारत के अनेक संस्करण हैं। रामोपाख्यान यवद्वीप, बाली द्वीप, सुमात्रा, कम्बोडिया, चम्पा, स्याम, चीन और तिब्बत में प्रचलित था। यवद्वीप की रामायण के कुछ अंश भट्टिकाव्य का अनुवाद है और कुछ अंश उसके आधार पर लिखे गये हैं। तिब्बत में जो रामायण का संस्करण प्राप्त हुआ है उसकी कथा रामायणी कथा से भिन्न है। जैनियों में भी रामायण के दो संस्करण हैं—एक वाल्मीकि का अनुसरण करता है, दूसरा बौद्ध कथा से प्रभावित है। इसी प्रकार महाभारत की कथा भी किसी-न-किसी रूप में बृहत्तर भारत के कई देशों में प्रचलित थी। भारतीय भाषाओं ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया है। व्याकरणशास्त्र भी इस देश में चरम विकास को पहुँचा है। रूसी विद्वान् श्चेरबात्स्की के शब्दों में पाणिनि की अष्टाध्यायी मानवी बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से है।

उपनिषदों की विचारधारा और साधना संसार के अलभ्य रत्नों में से है। भारत में जिन विशिष्ट विचारधाराओं ने जन्म लिया है उन सबका मूल स्थान उपनिषदों में है। उपनिषद् के वाक्यों में गाम्भीर्य, मौलिकता और उत्कर्ष पाया जाता है और वह प्रशस्त, पुनीत और उदात्त भाव से व्याप्त है। मैक्समूलर का कथन है कि उपनिषद् प्रभात के प्रकाश और पर्वतों की शुद्ध वायु के समान है। जिस प्रकार जब हिमानी से पुण्यसलिला भगवती भागीरथी उद्गत होकर पर्वत-माला में घूमती हुई प्रवाहित होती है तब उनमें स्नान करने से बाह्य और आभ्यन्तर की विशुद्धि होती है और एक क्षण के लिए ऐसी प्रतीति होती है मानो सकल वासना का क्षय हो गया हो, सकल शरीर प्रीति-रस से आप्लुत और सकल चित्त कुशल चेतना की भावना से वासित और व्याप्त हो गया हो, उसी प्रकार उपनिषत्वाक्यों में अवगाहन कर एक नया चैतन्य और एक नयी प्रेरणा मिलती है। यह वाक्य कभी बासी नहीं होते, कभी पुराने नहीं पड़ते। यह सदा नूतन और सदा नवीन हैं। उपनिषद् वह स्तम्भ है जिस पर प्रतिष्ठित संस्कृत विद्या और भारतीय संस्कृति का दीपक सदा प्रकाश देता रहता है। यही हमारी अचल निधि है, यही हमारा जय-स्तम्भ है।

संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता भी अद्भुत है। इसके अन्तर्गत अनेक शास्त्र और विद्याएँ है। इसकी धारा अविच्छिन्न रही है। सस्कृत वाङ्मय में मैं पालि और प्राकृत का भी समावेश करता हूँ। एक समय था कि जब संस्कृत का विशाल क्षेत्र था। मध्य एशिया से लेकर दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों तक संस्कृत का अखण्ड राज्य था। उस समय विविध सम्प्रदायों के विद्वान् सस्कृत में ही ग्रन्थ-रचना करते थे और शास्त्रार्थ भी संस्कृत में होता था। इस विशाल क्षेत्र पर भारतीय सस्कृति का अपूर्व प्रभाव पड़ा था। यवद्वीप का प्राचीन साहित्य संस्कृत पर आश्रित था और स्याम, लंका, मलय, जावा, हिन्दचीन आदि की भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव आज भी स्पष्ट है। इसी काल में भारतीयो ने इन द्वीपों में उपनिवेश बसाये थे। मध्य एशिया में बौद्धधर्म के साथ-साथ भारतीय भाषा, लिपि, दर्शन और कला भी गयी थी। तिब्बत का बौद्ध वाङ्मय भारतीय और भोट के पण्डितों के सहयोग से तिब्बती भाषा में अनूदित हुआ था और तिब्बती लिपि भी भारत की देन है। आज भी तिब्बत के मठो में प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थ पूजे जाते हैं। दिङ्नाग का न्यायमुख और आलम्बन परीक्षा, धर्मकीर्त्ति का प्रमाणवार्त्तिक आदि कई प्रसिद्ध ग्रन्थ वहाँ से उपलब्ध हुए है। महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन तिब्बत के मठों से ५१० हस्तलिखित संस्कृत पोथियों की सूची लाये है। अनेक भारतीय ग्रन्थ मध्य एशिया में पाये गये हैं। सिकिआंग का प्रान्त जो आज रेगिस्तान है, एक समय हरा-भरा प्रदेश था और उसके नगरों में बौद्धों के अनेक विहार और चैत्य थे जहाँ समृद्ध पुस्तकागार और कला की वस्तुएँ थी। इस स्थान पर अनेक भाषाओं का समागम और मिलन होता था। इस प्रदेश से सस्कृत, प्राकृत तथा अन्य अपरिचित भाषाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। स्टाइन ने भारत की ओर से खोज का काम किया था। पुराने विहारों के भग्नावशेष से बौद्ध मूर्तियाँ तथा रेशम, कागज और कपड़ा पर अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं। इस खोज से एक विलुप्त सभ्यता का पता लगा है। तुर्फान, कूचा, खुतन तथा अन्य स्थानो से विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ भूर्जपत्र, कागज, चमड़ा या लकड़ी पर लिखे गये हैं। इनकी लिपि गुप्तकालीन अथवा खरोष्ट्री है। बौद्धो के संस्कृत आगम के कई ग्रन्थ यहाँ पाये गये है तथा मातृचेट के दो प्रसिद्ध स्तोत्र ग्रन्थ भी मिलेहैं जिनकी प्रशंसा चीनी पर्यटक इत्सिग करता है। यहीं से अश्वघोष के नाटको के अश प्राप्त हुए हैं। खुतन का राजकाज भारतीय भाषा मे होता था और यहाँ के राजाओं के नाम भारतीय थे। काशगर का प्राचीन नाम अग्निदेश था। कूचा से ही बौद्धधर्म चीन गया था। प्रसिद्ध कुमारजीव कूचा का ही अधिवासी था। कूचा की संस्कृति भारतीय थी। यहाँ का तन्त्र व्याकरण का अध्ययन होता था।

अफगानिस्तान में सन् १९२२ से प्राचीन खुदाई का काम हो रहा है। हड्डा में अनेक स्तूप, चैत्य और मूर्तियाँ पायी गयी है। बामियान में बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ

तथा भित्तिचित्र मिले हैं। यहाँ पर भूर्जपत्र पर लिखित संस्कृत ग्रन्थ भी मिले है। यह महासांघिक विनयग्रन्थ तथा महायान के अभिधर्म ग्रन्थों के अंश है। काबुल के उत्तर-पश्चिम खैरखानिह पर्वत पर एक मन्दिर के भग्नावशेष मिले है जो गुप्त-कालीन मन्दिर की रचना का स्मरण दिलाते हैं। यहाँ श्वेत संगमरमर की सूर्य की एक प्रतिमा भी मिली है जो चतुर्थ शताब्दी की है।

कम्बोडिया (कम्बुजदेश) जो हिन्दचीन में समाविष्ट है, ६०० वर्ष तक भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र रहा है। यहाँ संस्कृत के लेख पाये गये है। यहाँ के स्थापत्य में विष्णु, राम और कृष्ण की कथाएँ संचित है। भारतीय कला का सौन्दर्य यहाँ निखरा है।

कहाँ तक कहें, दूर-दूर प्रदेशों में भारतीय ग्रन्थ पाये गये हैं। मैक्समूलर के एक जापानी शिष्य ने जापान के एक मन्दिर में सुखावती व्यूह की पोथी पायी थी। चीन और मंगोलिया में बौद्धधर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति भी गयी थी। चीन के साहित्य का अध्ययन करने से भारत के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें विदित होगी। कुछ काल पहले चीनी पर्यटक च्वंग-च्वंग को गया के संघाराम के आचार्य द्वारा लिखित पत्र और उसका उत्तर प्रकाशित हुआ था।

इस सम्बन्ध में यह नही भूलना चाहिए कि बौद्धधर्म भारतीय था और उसकी सस्कृति भारतीय थी। अवैदिक होते हुए भी बौद्ध और जैन धर्म का कर्म तथा कर्मफल में विश्वास था और दोनों नास्तित्ववाद का खण्डन करते थे। पुनः भारत के सब मोक्षशास्त्र चिकित्साशास्त्र के तुल्य चतुर्व्यूह हैं। हेय, हान, हेयहेतु और हानोपाय, यह चार सब मोक्षशास्त्रों के प्रतिपाद्य है। यही चार व्यूह योगसूत्र मे हैं। न्याय के यही चार अर्थपद हैं अर्थात् पुरुषार्थ स्थान हैं। बुद्ध के यही आर्यसत्य हैं। इन्हीं चार अर्थपदों को सम्यक् रीति से जानकर निःश्रेयस की अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है। सब अध्यात्म विद्याओं में इन चार अर्थपदो का वर्णन पाया जाता है। सभी शास्त्र समान रूप से स्वीकार करते हैं कि तत्त्वज्ञान अर्थात् सम्यग् दर्शन योग की साधना के बिना नही होता। न्यायदर्शन में कहा है कि समाधि विशेष के अभ्यास से तत्त्वसाक्षात्कार होता है।

यह आत्म-संस्कार की विधि है। जन्मान्तर में उपचित धर्म प्रविवेक से योगा-भ्यास का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। यह धर्मवृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है (प्रचय काष्ठागत) और उसकी सहायता से समाधि-प्रयत्न प्रकृष्ट होता है। तब समाधिविशेष उत्पन्न होता है। वैशेषिक सूत्र में भी कहा है कि आत्मकर्म से मोक्ष होता है। आत्मकर्म के अन्तर्गत श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम और शम-दम हैं। योग की साधना बौद्ध, जैन दोनों धर्मो मे पायी जाती है। प्राणायाम से काम और चित्त की प्रश्रब्धि होती है और जिस प्रकार न्यायशास्त्र प्राणायाम और अशुभ संज्ञा की भावना को विशेष महत्त्व देता है उसी

प्रकार बौद्धागम मे भी उनको विशिष्ट स्थान दिया गया है। इनसे कामराग का प्रहाण और नाना प्रकार के अकुशल वितर्को का उपशम होता है। मैत्री भावना का भी माहात्म्य विशिष्ट है। इस प्रकार योग की साधना वैदिक तथा अवैदिक धर्मों को एक सूत्र में बाँधती है और यह साधना सबको समान रूप से तभी स्वीकार हो सकती थी जब सबके भौतिक विचारों में भी किसी न किसी प्रकार का सादृश्य हो। मेरी धारणा है कि विविध सम्प्रदायों के होते हुए भी यदि हमारे देश में धर्म के नाम पर रक्तपात नही के तुल्य हुए है तो उसका एक कारण यह भी है कि उनकी मोक्ष की साधना समान रही है और जिस युग में भक्ति मार्ग का प्रभाव बढ़ा उस युग में बौद्धधर्म मे भी भक्ति और उपासना का प्राबल्य था।

मैंने इसका उल्लेख इस कारण किया कि कहीं आप बौद्ध और जैन आगम की उपेक्षा न करें। इन ग्रन्थों मे भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है और बौद्ध तथा जैन विद्वानों ने न्याय, दर्शन, व्याकरण और काव्य के विकास में विशिष्ट भाग लिया है।

ऐसे भारतीय वाङ्मय का संरक्षण तथा प्रचार करना हमारा-आपका कर्तव्य होना चाहिए। मैंने भारतीय संस्कृति के विस्तार का यत्किंचित् विवरण इस कारण दिया जिससे हमारे स्नातकों को इसकी समृद्धि और मूल्य का ज्ञान हो।

यह कार्य इस महाविद्यालय का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। किन्तु यह कार्य तब तक सम्पन्न नही हो सकता जब तक हम आलोचना और गवेषणा की आधुनिक पद्धति को न स्वीकार करें। अन्वेषण के कार्य के लिए यहाँ बृहत् आयोजन करना होगा। हम अपनी निधि की रक्षा और उसका मूल्यांकन ठीक-ठीक नही कर सकेंगे जब तक संस्कृत विश्वविद्यालय में संस्कृत के साथ पालि, प्राकृत, चीनी, भोट तथा कतिपय पाश्चात्य भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था न की जायगी। पुनः आज नवीन शास्त्रों का उदय हुआ है और प्राचीन विद्याएँ विकसित होकर प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुई है। अनुसन्धान के कार्य के लिए इनमें से जिन शास्त्रों और विद्याओं का जितना ज्ञान आवश्यक हो उतना हमारे विशेषज्ञों को प्राप्त करना चाहिए। उदाहरण के लिए भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों को जाने बिना हम प्राचीन ग्रन्थो का कई स्थल पर ठीक-ठीक अर्थ नही लगा सकते। वैदिक साहित्य के समझने के लिए अनेक जातियों के सांस्कृतिक इतिहास का तथा उनकी भाषा का जानना भी आवश्यक है। भारत में अनेक जातियाँ समय-समय पर आती रही है जो भारतीय समाज में घुल-मिल गयी है। उनके आचार-विचार का प्रभाव आर्यो की संस्कृति पर पड़ा है। उत्तर-पश्चिम मे अनेक धर्म और संस्कृतियों का मिलन तथा परस्पर आदान-प्रतिदान हुआ है। वहाँ की कला पर यूनानी और ईरानी कला का प्रभाव पड़ा था। गान्धार में अनेक शैलियों का विकास हुआ था और इनकी पूर्ण निष्पत्ति खुतन- कूचा तुर्फान आदि कला के प्रसिद्ध केन्द्रों में हुई थी।

इस प्रदेश में बौद्धधर्म का संस्पर्श ईरानी, मागी आदि धर्मों से हुआ था। अतः इस युग के धर्म और संस्कृति के इतिहास को जानने के लिए इन विविध धर्मों और संस्कृतियों का ज्ञान आवश्यक है। भारतीय समाजशास्त्र की रचना के लिए आज केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि हम विविध ग्रन्थों के आधार पर तथ्यों का संग्रह करें, किन्तु साथ-साथ पश्चिम के समाजशास्त्र, नृतत्व आदि उपयोगी शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्त तथा उनमें एकत्र की हुई सामग्री को जानना भी आवश्यक है।

इस महाविद्यालय में इस कार्य के लिए अनेक सुविधाएँ हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आपके पास एक बृहत् पुस्तकालय है जिसमें हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। हस्तलिखित पुस्तकों का सूचीपत्र तैयार किया जा रहा है और प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशन की भी व्यवस्था की गयी है। काशी संस्कृत शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र है और प्राचीन शैली के अनेक विद्वान् यहाँ प्रवचन करते हैं। नवीन शैली के संस्कृत विद्वानों के सहयोग की परम आवश्यकता है। पिछले ३० वर्षों में जिन भारतीयों ने संस्कृत विद्या के उद्धार का स्तुत्य कार्य किया है उनमें अधिकांश वही हैं जिन्होंने पश्चिम के गवेषणा के प्रकारों को सीखा है और जिन्होंने नये ढंग से शिक्षा प्राप्त की है। इनके सहयोग से यहाँ के स्नातक भी इस कार्य के लिए तैयार किये जा सकते हैं। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। मैं जब काशी में विद्यार्थी था तब संस्कृत कालेज के कुछ शास्त्री फ्रेंच, जर्मन, पालि आदि पढ़ा करते थे और उनको छात्रवृत्ति दी जाती थी। किन्तु इनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। अब इसी कार्य को बड़े पैमाने पर करने की आवश्यकता है। इसके लिए इन भाषाओं के अध्यापन तथा छात्रवृत्तियों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

अपने प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण भी अभी नहीं निकल पाये हैं। महाभारत ऐसे प्राचीन ग्रन्थ का कोई प्रामाणिक संस्करण न हो यह कितनी लज्जा की बात है। किन्तु भण्डारकार ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट इस कमी को पूरा कर रहा है। इसका आरम्भ सन् १९१९ में हुआ था और आज भी यह कार्य समाप्त नहीं हुआ है। यह कार्य जितना कठिन और महान है उतना ही इसका महत्त्व भी है। अशुद्ध पाठ के आधार पर जो विविध निष्कर्ष निकाले गये थे वह सदोष पाये गये हैं। जब आदिपर्व का वैज्ञानिक संस्करण सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ था तब उस पर संसार के विद्वानों ने बड़ा सन्तोष प्रकट किया था और उसे संस्कृत भाषा-विज्ञान के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बताकर डा० सुक्थंकर की प्रशंसा की गयी थी। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति की जानकारी के बिना यह महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हो सकता था। पुराणों में भी शोध का बहुत काम करना है। हस्तलिखित पोथियों की खोज भी जारी रहनी चाहिए और उनकी रक्षा का उचित विधान होना चाहिए। विज्ञान की सहायता के बिना यह साधारण-सा कार्य भी नहीं हो

सकता। जो पोथियाँ जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं उनकी रक्षा का एकमात्र उपाय उनका चित्र लेना है। माइक्रोफिल्म और फोटोस्टेट कैमरा की सहायता से यह कार्य सुकर हो गया है। इस सम्बन्ध मे मुझे एक निवेदन करना है कि गवर्नमेण्ट को इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में सगृहीत भारतीय पुस्तको की वापसी की चेष्टा करनी चाहिए। समाचार-पत्रों से ज्ञात होता है कि ऐसी कुछ चेष्टा की जा रही है। यदि यह सत्य है तो यह परम सन्तोप का विषय है। इगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों में जो ग्रन्थ गये है उनका चित्र प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। एक ऐसा भी कानून बनाना चाहिए कि भारत से बाहर कोई प्राचीन ग्रन्थ, चित्र या कला की वस्तु न जावेगी।

मेरी संस्कृत विश्वविद्यालय की कल्पना यह है कि यहाँ प्राचीन शास्त्रो के स्वाध्याय-प्रवचन के साथ-साथ गवेषणा की पूरी व्यवस्था की जाय और इस सम्बन्ध में जिन भाषाओं और नवीन शास्त्रों की शिक्षा की आवश्यकता हो उसका भी प्रबन्ध किया जाय। इस गवेषणा के कार्य में पुरातन और नवीन शैली, दोनो के विद्वानो का सहयोग प्राप्त किया जाय तथा विद्यालय से निकले हुए आचार्यों को छात्रवृत्ति देकर अन्वेषण के कार्य के लिए तैयार किया जाय। यहाँ ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे अन्य विश्वविद्यालयो के विद्वान् यहाँ आकर अनुसन्धान के कार्य में योग दे सकें। किन्तु इस व्यवस्था से पूरा लाभ तभी होगा जब यहाँ के पाठ्यक्रम में उचित परिवर्तन किये जायेंगे। आज के युग में पुरानी पद्धति की संस्कृत की शिक्षा तभी अपने उद्देश्य को चरितार्थ कर सकती है जब शास्त्रो की शिक्षा के साथ-साथ मौलिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जाय। प्रत्येक विद्यार्थी को केवल अपनी जीविका का ही उपार्जन नही करना है किन्तु उसे एक नागरिक के कर्तव्यों का भी पालन करना है और इससे भी बढ़कर उसे मनुष्य बनना है और मनुष्य भी पुराने युग का नहीं, आज के युग का, जब समाज ने अपने सामञ्जस्य को खो दिया है, जब विचारों में संघर्ष चल रहा है और एक प्रकार की अनिश्चितता है जिसके कारण जीवन के प्रति कोई स्पष्ट और उत्कृष्ट दृष्टि नही बन पाती। वह मनुष्य क्या है जो अपनी मातृभाषा के साहित्य से परिचित नहीं है, जो एक शास्त्र का विशेषज्ञ होने के लोभ में अपने साहित्य और कला की अमर कृतियों की उपेक्षा करता है? वह मनुष्य क्या है जो ससार के इतिहास से अपरिचित है, जिसको वर्तमान समस्याओं और घटनाओ का ज्ञान नहीं है? वह अपने विषय का विशेषज्ञ हो सकता है। यदि वह विज्ञान का विद्यार्थी है तो वह कुशल शिल्पी हो सकता है, यदि वह सस्कृत का शास्त्री या आचार्य है तो वह पौरोहित्य या अध्यापन का कार्य कर सकता है, किन्तु दोनों दूसरों का उपकरण ही बन सकते हैं और समाज और राजनीति के संचालन में वह अपने को असमर्थ पाते हैं। इसका कारण यह है कि वह अपने धन्धे को जानते हैं किन्तु शिक्षा और जीवन के परम उद्देश्य

को नहीं जानते । उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है और न उनकी शिक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उनको जीवन के विविध क्षेत्रों के लिए सामान्य रूप से तैयार करे। इसलिए प्रत्येक विद्यार्थी के लिए ऐसी पाठ्य-पद्धति होनी चाहिए जिसके द्वारा यह सामान्य किन्तु परम आवश्यक ज्ञान उसको दिया जा सके। इस दृष्टि से डाक्टर भगवानदास समिति के अभिस्तावों तथा निष्कर्षों का मैं सामान्य रूप से स्वागत करता हूँ। नवीन विषयों के समावेश की बात तो दूर रही, वर्तमान प्रणाली के अनुसार संस्कृत वाङ्मय का भी एकांगी अध्ययन ही हो पाता है।

अतः पाठ्यक्रम के क्षेत्र को दो प्रकार से हमें विस्तृत करना चाहिए। एक संस्कृत विद्या की पाठ्यविधि को व्यापक और सर्वांगीण बनाना। दो—पाठ्यविधि में आधुनिक विषयों का यथा, हिन्दी, इतिहास, भूगोल, राजशास्त्र, गणित का समावेश करना। साथ-साथ विद्यार्थियों में तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहिए। इन सिद्धान्तों के आधार पर पाठ्य-पद्धति का पुनर्निर्माण होना चाहिए, किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान के गाम्भीर्य में कमी न हो तथा गाम्भीर्य की रक्षा करते हुए आवश्यक मात्रा में उसका विस्तार भी हो। जितना आधुनिक ज्ञान एक साधारण विद्यार्थी के लिए नितान्त आवश्यक है उतना तो संस्कृत पाठशालाओं के छात्रों को भी अर्जित करना चाहिए।

मैं एक दूसरे आवश्यक कार्य की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ, यह है संस्कृत वाङ्मय का हिन्दी में अनुवाद। यदि हिन्दी भाषा में हमारे प्राचीन ग्रन्थ रत्नों का अनुवाद प्रस्तुत हो तो इससे भारतीय संस्कृति के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी। आधुनिक भाषाओं की आप उपेक्षा नहीं कर सकते। सारा राजकाज इन्हीं भाषाओं में होने जा रहा है। धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हो जायगी। आपको मातृभाषा का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। अब वह समय नहीं रहा जब किसी लेखक या कवि से प्रश्न किया जाय कि तुम संस्कृत का परिहार कर हिन्दी में गद्य या काव्य-रचना करने में क्यों प्रवृत्त हुए हो। इसका उत्तर राजशेखर और गोस्वामी तुलसीदासजी दे गये हैं। राजशेखर के अनुसार संस्कृतबन्ध परुष है और प्राकृतबन्ध सुकुमार है। वह आगे चलकर कहते हैं कि उक्ति विशेष ही काव्य है, भाषा चाहे जो हो। राजशेखर के समय में संस्कृत काव्य कृत्रिम और क्लिष्ट हो गया था, यह उसके ह्रास की अवस्था थी। रामायण, महाभारत, महाभाष्य और शंकरभाष्य की शैली भुला दी गयी थी, काव्य का प्रसाद गुण विलुप्त हो गया था। भामह का कहना है कि काव्य को क्लिष्ट और दुरूह नहीं होना चाहिए, उसके समझने के लिए किसी टीका की आवश्यकता न होनी चाहिए। वह इतना सरल हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग, बालक और स्त्रियाँ भी उसे समझ सकें। गद्य का प्राण ओज है (ओजः गद्यस्य जीवितम्)। अब

संस्कृत किसी वर्ग की भी बोलचाल की भाषा न रह गयी तो उसमें कृत्रिमता का आ जाना स्वाभाविक है। तब पाण्डित्य-प्रदर्शन ही एकमात्र काव्य-रचना का उद्देश्य रह गया और काव्य हृदयग्राही न रहा। माधुर्य और प्रसाद गुण मातृभाषा के साहित्य में ही सुगमता के साथ आ सकता है। अतः मातृभाषा मे साहित्य-सर्जन करने में हमको गौरव का अनुभव करना चाहिए।

मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार यह बताने की चेष्टा की है कि संस्कृत विश्वविद्यालय का क्या उद्देश्य और क्या कार्यक्रम होना चाहिए। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस विश्वविद्यालय में उन सब विषयों के अध्ययन की व्यवस्था साधारणतः करने की कोई आवश्यकता नही है जिनका प्रबन्ध अन्य विश्वविद्यालयो में होता है। वहाँ का पठन-पाठन अब राष्ट्रभाषा में होगा। अतः जिनको उन विषयों की शिक्षा लेनी है वह वहाँ जा सकते हैं। इसकी सुविधा अवश्य होनी चाहिए किन्तु संस्कृत विश्वविद्यालय का एक विशेष लक्ष्य है जिसकी पूर्ति अन्य विश्वविद्यालयों में नहीं हो रही है। एक प्रकार से यह विद्यालय भी है और प्राच्य विद्या के अन्वेषण का एक प्रतिष्ठान भी है। ज्ञान-राशि अनन्त है, उसकी सीमा नहीं है। इधर अनेक नवीन शास्त्रों की प्रतिष्ठा हुई है और ज्ञान का विस्तार इतना बढ़ गया है कि बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के गवेषणा का कार्य दुष्कर हो गया है। ज्ञान के सदृश दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है। अतः विदेशियों से उसके लेने मे संकोच नही होना चाहिए। प्राचीन काल में भी हमने स्वाध्याय और प्रवचन मे कृपणता नहीं दिखायी थी। आज भी हमको उसी उदार बुद्धि तथा व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए। इसी में हमारा मंगल है। इसी प्रकार भारत की सर्वतोमुखी प्रतिभा का उन्नयन होगा।

संस्कृत का आदर और सम्मान अधिकाधिक बढ़ता जायगा। संसार के प्रत्येक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में संस्कृत की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया है। पाश्चात्य जगत् के विद्वान् गवेषणा के कार्य में हमसे कहीं आगे बढ़े हुए हैं, उनमे ज्ञान की पिपासा है; जहाँ से ज्ञान मिल सकता है वहाँ से लेने में उनको तनिक भी संकोच नहीं होता। हममें या तो मिथ्या गर्व और चित्तोद्रेक है अथवा आत्मावसाद है। दोनों का परिहार कर संस्कृत वाङ्मय के संरक्षण और प्रचार में हमको प्राण-पण से लग जाना चाहिए। जो विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर उपाधि ले रहे हैं उनका इस विषय में विशेष उत्तरदायित्व है।

मैं जानता हूँ कि किस विषम परिस्थिति में आप स्नातक अपना पठन-पाठन करते हैं। प्रवाह के विरुद्ध होते हुए भी आप संस्कृत विद्या की रक्षा में जो लगे हुए हैं यह स्तुत्य है। आपके जीविका-निर्वाह के लिए कुछ अन्य वृत्तियों का द्वार अब खुल जाना चाहिए। केवल पौरोहित्य और अध्यापन की वृत्तियाँ पर्याप्त नही है। इस दृष्टि से आपको कतिपय अन्य परीक्षाओं में सम्मिलित होने की सुविधा प्रदान

करना चाहिए। इस दृष्टि से भी पाठशालाओं की पाठन-विधि में परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत होता है। पाठ्य-ग्रन्थावली संशोधन समिति ने अपने निश्चयों में इस बात का भी ध्यान रखा है। आपकी आर्थिक अवस्था को सुधारना तथा आपको देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ बनाना समाज का कर्तव्य है।

इतने विद्यार्थियों को विविध उपाधि और पदवियों से विभूषित होते देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। मैं आपका शुभ चिन्तन करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि आप समाज में अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान पाकर शीघ्र कार्य में नियुक्त हो जावेंगे और जो प्रतिज्ञाएँ आज आपने स्वीकार की हैं उनकी सदा रक्षा करेंगे।

जिस युग में हम रह रहे हैं उसकी अपनी विशेषता है। हमारी सभ्यता पर आधुनिक विज्ञान का गहरा प्रभाव पड़ा है। आज संकुचित विचारधारा से हमारा कल्याण नहीं हो सकता है। हमारी दृष्टि साम्प्रदायिक और प्रान्तीय न होकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। हममें इन हीन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने का सत्साहस और सद्विवेक होना चाहिए। प्राचीन संस्कृति के उत्कृष्ट अंशों की रक्षा करते हुए हमको आधुनिक युग के सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अपनाना होगा। राष्ट्रीय एकता के लिए किसी विशेष भाषा या लिपि का अनुचित पक्षपात छोड़कर केवल राष्ट्रहित से प्रेरित होना होगा। जनतन्त्र की भावना से प्रेरित होकर हमको सब काम करने होंगे। हमारा चिन्तन वैज्ञानिक होगा और हम ज्ञान की निरन्तर वृद्धि करते रहेंगे। जिस कुशल चेतना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषियों ने सकल समाज के कल्याण के लिए सत्पथ का उद्घाटन किया था, उसी कुशल चेतना की भावना कर उन्हीं आर्य और उदात्त भावों से प्रेरित होकर हम आज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्रती हों और बहुजन समाज के हित-सुख का विधान कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए यत्नवान् हों। तभी हम अपना कल्याण और विश्व का कल्याण कर सकेंगे। तभी संसार में शान्ति, तुष्टि और पुष्टि होगी। आशा है आप ईप्सित फल प्राप्त करेंगे और संस्कृत विश्वविद्यालय का यह शुभ संकल्प विद्वज्जनों का सहयोग प्राप्त कर सफल होगा।

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः,
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयसाम् ॥

सार्थो नन्दतु सज्जनानां सकलो वर्गः खलानां पुन-
र्नित्यं खिद्यतु भवतु ब्राह्मणजनः सत्याशीः सर्वदा।
मेघो मुञ्चतु संचितमपि सलिलं शस्योचितं भूतले
लोको लोभपराङ्मुखोऽनुदिवसं धर्मे मतिर्भवतु च ॥

काशी संस्कृत महाविद्यालय के समावर्तन संस्कार के अवसर पर दिया गया दीक्षान्त भाषण

बौद्ध संस्कृत-साहित्य का इतिहास*

भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में धर्म का उपदेश दिया था यह जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। बुद्धघोष का कहना है कि यह भाषा मागधी थी और उनके अनुसार पालि भाषा की प्रकृति मागधी भाषा है। रीस डेविड्स का कहना है कि बुद्ध की मातृभाषा कोशल की भाषा थी और इसी भाषा मे बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया, क्योंकि कोशल के राजनीतिक प्रभाव के कारण यह भाषा उस समय दिल्ली से पटना तक और श्रावस्ती से अवन्ती तक बोली जाती थी। उनका यह भी मत है कि पालि भाषा कोशल की बोलचाल की भाषा से निकली थी। पालि भाषा की बनावट पर यदि दृष्टि डाली जावे और उसकी तुलना अशोक के शिलालेखों की भाषा से की जावे तो मालूम पड़ेगा कि पालि गिरनार-लेख की भाषा से मिलती-जुलती है। इस कारण वेस्टरगार्ड और ई. कुह्न ने पालि को उज्जैन की भाषा से सम्बद्ध बताया है। उनका कहना है कि अशोक के पुत्र (या भाई) महेन्द्र का जन्म उज्जैन में हुआ था और उन्होंने ही लका द्वीप मे बौद्धधर्म का प्रचार किया। उनका कहना है कि यह स्वाभाविक है कि महेन्द्र ने अपनी मातृभाषा का प्रयोग धर्म-प्रचार के कार्य में अवश्य किया होगा। इस कारण उनके मत में पालि उज्जैन की भाषा से सम्बन्ध रखती है। जो कुछ हो, भाषा की बनावट को देखते हुए हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि पालि भारत के पश्चिम प्रदेश की कोई भाषा मालूम पडती है और इसके विकास मे सस्कृत का अच्छा-खासा हाथ है।

यह हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि भगवान् बुद्ध ने किस भाषा मे धर्म का प्रचार किया पर चुल्लवग्ग से हमको यह मालूम है कि भगवान् बुद्ध किसी भाषा विशेष पर जोर नही देते थे। चुल्लवग्ग (५।३३।१) में लिखा है कि किसी समय दो भिक्षुओं ने भगवान् से शिकायत की कि भिक्षु बुद्ध वचन को अपनी-अपनी बोली में (सकाय निरुत्तिया) परिवर्तित कर रहे है। इसलिए उन्होने

* [विद्यापीठ (त्रैमासिक, बनारस), वर्ष १, अङ्क १, आश्विन, १९८५ वि०]

भगवान् से निवेदन किया कि संस्कृत (छन्दसो) के प्रयोग की आज्ञा प्रदान की जावे जिसमें एक ही भाषा में सारे बुद्ध-वचन सुरक्षित रहें और भिन्न-भिन्न प्रदेश के भिक्षु अपनी इच्छा के अनुसार बुद्ध-वचन को भिन्न-भिन्न रूप न दे सके। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भिक्षुओं को अपनी-अपनी भाषा के प्रयोग करने की आज्ञा देता हूँ (अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं) और उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। बुद्ध शब्द-विशेष के प्रयोग का महत्त्व नहीं मानते थे। उनकी केवल यही इच्छा थी कि लोग 'धर्म' को जानें और उसका अनुसरण करें। इस आज्ञा के अनुसार भिक्षु बुद्ध-शिक्षा को पैशाची, अपभ्रंश, संस्कृत, मागधी या अन्य किसी भाषा मे उपनिबद्ध कर सकते थे। हमारे पास इसका पर्याप्त प्रमाण है कि भिक्षुओं ने इस आदेश के अनुसार कार्य भी किया। विनीतदेव (८वी शताब्दी ई०) का कहना है कि सर्वास्तिवादी संस्कृत, महासांघिक प्राकृत, सम्मितिय अपभ्रंश और स्थविरवादी पैशाची भाषा का प्रयोग करते थे।[१] वासिलीफ[२] का कहना है कि पूर्व शैल और अपर शैल के प्रज्ञा ग्रन्थ प्राकृत में थे। बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थ पालि, गाथा, संस्कृत, चीनी और तिब्बती भाषाओं में पाये जाते है। हाल में ही मध्य एशिया की खोज में बौद्ध-निकाय के कुछ ग्रन्थों के अनुवाद मंगोल, तिगूर, सोग्डियन, कुचनी और नार्डर[३] भाषा मे पाये गये हैं।

सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो उपलब्ध है पालिभाषा में हैं। पालिनिकाय को त्रिपिटक कहते हैं। सूत्र, विनय और अभिधर्म यह निकाय के तीन विभाग (पिटक) हैं। त्रिपिटक के सब ग्रन्थ एक समय में नहीं लिखे गये। इनमें सूत्र और विनय अपेक्षया प्राचीन है। दीपवंस के अनुसार पहली धर्म संगीति मे धर्म (सूत्र) और विनय का पाठ हुआ। अभिधर्म का इस सम्बन्ध मे उल्लेख नही मिलता। वैशाली की धर्म संगीति में चुल्लवग्ग के अनुसार केवल विनय के ग्रन्थों का पाठ हुआ था। वैशाली की संगीति के समय संघ में भेद हुआ। इस भेद का फल यह हुआ कि भिक्षुसंघ दो भागों में विभक्त हो गया— (१) स्थविरवाद, (२) महासांघिकवाद। दीपवंस और महावंस के अनुसार विनय के दस नियमों को लेकर ही संघ में भेद हुआ था। महासांघिकों को परिवार पाठ (विनय का एक ग्रन्थ) नही मान्य था। अभिधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ कथावत्थु की रचना अशोक के समय मे

---

१ Sir Asutosh Mukerjee Silver Jubilee Volume III. Orientalia, Part 3—"History of Early Buddhist Schools", by Ryukan Kimura, pp. 87 et seq.

२. Wassilief : Buddhismus, p. 291.

३ N gur Sogdian Kuch and No

हुई। सूत्रपिटक के कुछ ग्रन्थ बाद के मालूम पड़ते है। पेतवत्थु, विमानवत्थु, बुद्धवंस, अपदान, चरियापिटक और जातक में दस पारमिता, बुद्धपूजा, चैत्यपूजा, स्तूपपूजा, भिक्षादान, विहारदान, आराम, आरोपण की महिमा वर्णित है। बुद्धवंस मे 'प्रणिधान' और विमानवत्थु में पुण्यानुमोदन का उल्लेख पाया जाता है। इनकी चर्चा महायान के ग्रन्थों मे प्रायः मिलती है। इस कारण यह ग्रन्थ पीछे के मालूम होते है। पालिनिकाय के समय के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। सामान्यतः विद्वानों का मत है कि इसका अधिकांश दूसरी धर्मसंगीति के पूर्व प्रस्तुत हो चुका था। जब बौद्धधर्म का सिंहल द्वीप मे प्रवेश और प्रसार हुआ, तब दक्षिण के प्रदेशों के लिए यह द्वीप एक अच्छा केन्द्र बन गया। यहाँ पालिनिकाय का विशेष आदर हुआ। निकाय ग्रन्थो पर सिंहल की भाषा मे टीकाएँ भी लिखी गयी जिनको आगे चलकर प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोष ने पालि रूप दिया। बुद्धघोष का जन्म ३६० ई० के लगभग गया मे हुआ था। यह रेवत के शिष्य थे। अनुराधपुर के महाविहार मे रहकर इन्होंने संघपाल से शिक्षा पायी और सिंहली भाषा मे लिखी हुई टीकाओं का पालि मे अनुवाद किया। इन्होंने 'विसुद्धिमग्ग' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा। पाँचवी शताब्दी में सिंहल द्वीप मे पालि मे दीपवंस और महावंस लिखे गये। पाँचवी शताब्दी के दूसरे भाग मे कांचीपुर में धर्मपाल नाम के एक स्थविर हुए। इन्होने भी पालि में टीकाएँ लिखीं। लंका, बर्मा और स्याम मे जो पालि ग्रन्थ लिखे गये है वह चौथी शताब्दी से पूर्व के नही है। यह पालि-निकाय स्थविरवाद का निकाय है और लंका, बर्मा, स्याम और कम्बोज में इसकी मान्यता है।

स्थविरवाद का आदर्श अर्हत् और उसका लक्ष्य निर्वाण था। अर्हत् रागादि दोप का मूलोच्छेद कर क्लेश बन्धन से विनिर्मुक्त होता था। उसका चित्त संसार से विमुक्त और मन निर्विषयी होता था। अर्हत् अपनी ही उन्नति के लिए यत्नवान् होता था। उसकी साधना अष्टांगिक मार्ग की साधना थी। स्थविरवादियो के मत मे बुद्ध यद्यपि लोक में श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है तथापि बुद्ध-काय जरा, व्याधि, मरण इत्यादि दुःखों से विमुक्त न था। महासांघिकों के विचार मे बुद्ध एक विशेष अर्थ मे लोकोत्तर थे। महासांघिकवाद के अन्तर्गत उसकी शाखा रूप एक लोकोत्तरवाद था। इसके विनय का प्रधान ग्रन्थ महावस्तु है। इनके मत में बुद्ध को विश्राम अथवा निद्रा की आवश्यकता नही है और जितने समय तक वह जीवित रहना चाहे उतने समय तक जीवित रह सकते है। स्थविरवादियों के अनुसार यदि अच्छा अभ्यास नियमपूर्वक किया जावे तो इस इष्ट धर्म मे निर्वाण मिल सकता है। चार आर्य सत्य का दर्शन और उसकी भावना से निर्वाण फल का अधिगम होता है। मोक्ष के इस मार्ग का अनुसरण उसी के लिए सम्भव है जो शील में प्रतिष्ठित है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है। बुद्ध अन्य अर्हतों से भिन्न

हैं क्योंकि उन्होंने सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का निर्देश किया जिस पर चलकर लोग संसार से विमुक्त होते हैं। इस विशेषता का कारण यह है कि बुद्ध ने पूर्वजन्मों में पुण्य राशि का संचय और अनन्त ज्ञान प्राप्त किया था।

बुद्ध-भक्ति प्रारम्भ में न थी। पर बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् धीरे-धीरे बुद्ध के व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ने लगा और बुद्ध-पूजा प्रारम्भ हो गयी। ज्यों-ज्यों धर्म का प्रसार गृहस्थों में बढ़ता गया त्यों-त्यों बुद्ध-भक्ति का महत्त्व भी बढ़ता गया क्योंकि गृहस्थ के लिए गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए निर्वाण का पाना शक्य न था। गृहस्थ केवल पुण्य-संचय कर सकता था। इसका उपाय चैत्य-पूजा, स्तूप-पूजा, विविध दान इत्यादि ही था। इस बुद्ध-भक्ति की सूचना सबसे पहले हमको पालिनिकाय में ही मिलती है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, विमानवत्थु में बुद्ध-पूजा का उल्लेख है। जातक में भगवान् बुद्ध के ५५० पूर्वजन्मों की कथा वर्णित है। जातक संग्रह की निदान कथा में बतलाया है कि शाक्य मुनि गौतम दीपंकर बुद्ध के समय में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। सुमेध उनका नाम था। उन्होंने प्रव्रज्या ली थी और हिमालय में पर्णकुटी बनाकर रहते थे। दीपंकर की मुखश्री को देखकर उनको बुद्ध-भाव के लिए उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। दीपकर ने घोषित (व्याकरण) किया कि यह जटिल तापस एक दिन बुद्ध होगा। उसको आकांक्षा हुई कि मैं सम्यक् ज्ञान (संबोधि) प्राप्त कर अनेक जीवों को परिनिर्वाण प्राप्त कराऊँ। यह विचार कर वह बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण करने लगा और अन्वेषण करने से दस पारमिता प्रकट हुईं। चरियापिटक में बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथा वर्णित है। इस ग्रन्थ में भी पारमिता का उल्लेख मिलता है। अब अर्हत् का आदर्श परम कारुणिक बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ मालूम पड़ने लगा। बुद्धचरित के अनुशीलन से बुद्ध के अनुकरण करने की इच्छा प्रकट हुई। भगवान् सर्वज्ञ थे। वह जानते थे कि जीव दुःख से आर्त है। जीवों के प्रति उनको महाकरुणा उत्पन्न हुई और इसी करुणा से प्रेरित हो भगवान् बुद्ध ने जीवों के कल्याण के लिए ही धर्मोपदेश करना स्वीकार किया। बुद्धचरित से प्रभावित हो बौद्धों में एक नवीन विचार-पद्धति का उदय हुआ। अष्टांगिक मार्ग के स्थान मे बोधिसत्वचर्या का विकास हुआ और इस समुदाय का आदर्श अर्हत् न होकर 'बोधिसत्व' हुआ क्योंकि भगवान् बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक बोधिसत्व थे। बोधिसत्व उसे कहते हैं जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति चाहता है। जिसमें सम्यक् ज्ञान है उसी के चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। इस नवीन धर्म का नाम 'महायान' पड़ा। महायानवादी प्राचीन विचार वालों को हीनयानवादी कहते थे। हीनयान का दूसरा नाम श्रावकयान है। इसका प्रतिपक्ष महायान या बोधिसत्वयान है। इसको अग्रयान भी कहा है। बुद्धवंस में श्रावक और प्रत्येक बुद्ध सम्यक संबुद्ध के प्रतिपक्षी है। श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान

में ऐसा अन्तर नहीं है। दोनों एक ही बोधि और निर्वाण को पाते हैं। श्रावक ऐसे समय में होते हैं जब सद्धर्म संसार में है। प्रत्येक बुद्ध सद्धर्म के लोप हो जाने पर अपने उद्योग से 'बोधि' प्राप्त करते हैं। श्रावक धर्म का उपदेश करते हैं पर प्रत्येक बुद्ध उपदेश से विरत रहते हैं, केवल प्रातिहार्य द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों को (तीर्थिकों को) बौद्धधर्म की दीक्षा देते हैं।

सद्धर्म पुण्डरीक तथा अन्य कई सूत्रों का स्पष्ट कहना है कि एक ही यान है—बुद्धयान। पर इसकी साधना में बहुत समय लगता है। इसलिए बुद्ध ने अर्हत् के निर्वाण का निर्देश किया है।[1] एक प्रश्न यह उठता है कि क्या महायान के आचार्यों के मत में केवल महायान ही मोक्षदायक है। इत्सिंग[2] का कहना है कि दोनों यान बुद्ध की आर्यशिक्षा के अनुकूल हैं, दोनों समान रूप से सत्य और निर्वाणगामी हैं। इत्सिंग स्वयं हीनयानवादी था। वह कहता है[3] कि यह बताना कठिन है कि हीनयानान्तर्गत अठारह वादों में से किसी की गणना महायान या हीनयान में की जावे। युआनच्वांग[4] ऐसे भिक्षुओं का उल्लेख करता है जो स्थविरवादी होकर भी महायान के अनुयायी थे और विनय में पूर्ण थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ हीनयान के भिक्षु भी 'महायान संवर' का ग्रहण और पालन करते थे। महायान के विनय का प्राचीनतम रूप ज्ञात नहीं है। यह सम्भव है कि आदि में महायानवाद के निज के विनय ग्रन्थ नहीं थे। पीछे से साधक के लिए विनय के ग्रन्थों की रचना की गयी। इत्सिंग के अनुसार महायान की विशेषता केवल बोधिसत्वों की पूजा में थी। महायान के अन्तर्गत भी हीनयान के समान अनेक वाद थे। इनमें पारमितायान या बोधिसत्वयान या बुद्धयान, प्रज्ञायान (या ज्ञानमार्ग) और भक्तिमार्ग प्रधान हैं और आगे चलकर तन्त्र के प्रभाव से मन्त्रयान, वज्रयान और तन्त्रयान का विकास हुआ।

प्रायः महायानवादी हीनयान की साधना को तुच्छ समझते हैं। कुछ का यहाँ तक कहना है कि श्रावकयान द्वारा निर्वाण नहीं मिल सकता। शान्तिदेव का[5] कहना है कि श्रावकयान की कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए, न उसको सुने और न पढ़े, क्योंकि इससे क्लेशों का अन्त न हो सकेगा।

इन तीन मुख्य यानों का वर्णन हम आगे चलकर देंगे। यहाँ इतना कहना

---

१. सद्धर्म पुण्डरीक। Sacred Books of the East, Vol. XXI, p. 181.
२. I-tsing : A Record of the Buddhist Religion, p. 15.
३. Ibid. p. 14.
४. Thomas Watters. On Yuan Chwang's travels in India. Vol I. p. 227, II, pp. 136, 188, 199, 234, 248.
५. शिक्षा समुच्चय, पृ० ६१ बोधिचर्यावतार, ५वाँ परिच्छेद।

पर्याप्त होगा कि प्रज्ञायान के अन्तर्गत दो दार्शनिक विचार-पद्धतियों का उदय हुआ, मध्यमक और विज्ञानवाद। मध्यमकवादी मानते थे कि सब वस्तु स्वभाव-शून्य हैं और विज्ञानवादी बाह्य वस्तु ज्ञान को असत् और विज्ञान को सत् मानते थे। भक्तिवादी बुद्ध को अनादि देवाधिदेव मानकर पूजा करते थे और यह विश्वास रखते थे कि बोधिसत्व सहायता करते हैं। महायानवादियों को प्राचीन निकाय मान्य है पर हीनयान के अनुयायी महायान ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। महायानवादियों का कहना है कि महायान नवीन नहीं है और हीनयान के आगम ग्रन्थ ही महायान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मध्यमक सूत्र के वृत्तिकार चन्द्रकीर्ति का कहना है कि हीनयान के ग्रन्थों में भी शून्यता की शिक्षा मिलती है। हीनयानवाद के ग्रन्थ महावस्तु में दशभूमि और पारमिता का भी वर्णन है। महायान के ग्रन्थ गाथा और संस्कृत में हैं। 'गाथा' भाषा के सम्बन्ध में आगे चलकर विचार किया जावेगा। महायान ग्रन्थों की भाषा संस्कृत होने के कारण प्रायः लोग आजकल महायान को संस्कृत बौद्धधर्म[१] कहते हैं पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि हीनयान के अन्तर्गत सर्वास्तिवाद के आगम ग्रन्थ भी संस्कृत में थे। पूर्व इसके कि हम महायान के ग्रन्थों का विवरण दें और उनकी परीक्षा करें, हीनयान के संस्कृत ग्रन्थों का जो थोड़ा-बहुत इतिहास मालूम है, उसे देना आवश्यक है।

पालिनिकाय का अध्ययन यूरोप में १८वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था, पर बौद्ध धर्म के संस्कृत साहित्य से यूरोपीय विद्वान् अपरिचित थे। सन् १८१६ ई० में जब नेपाल युद्ध का अन्त हुआ और अंग्रेजों ने नेपाल दरबार की मैत्री स्थापित हुई तब से सिगौली के सुलहनामे के अनुसार काठमाण्डू में अंग्रेजी रेसिडेण्ट रहने लगे। जब पहले-पहल रेसिडेंसी कायम हुई तब ब्रायन हाब्सन् रेसिडेण्ट के सहायक नियुक्त हुए। यह बड़े विद्याव्यसनी थे। रेसिडेंसी में अमृतानन्द नाम के एक बौद्ध पण्डित मुंशी का काम करते थे। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि नेपाल में इस समय भी बौद्धधर्म जीवित था। जब मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचार के कारण बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया तब बौद्ध-भिक्षुओं को नेपाल और तिब्बत में ही शरण मिली। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण नेपाल मुसलमानों के आक्रमण से भी सुरक्षित रहा। अमृतानन्द एक अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने कई संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी। बुद्धचरित की जो पोथी उस समय नेपाल में प्राप्य थी वह अधूरी थी। अमृतानन्द ने इस कमी को पूरा किया और चार सर्ग अपने रचे जोड़ दिये। हाब्सन् का ध्यान बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट हुआ और अमृतानन्द की सहायता से वह हस्तलिखित पोथियों का संग्रह करने लगे। हाब्सन् का संग्रह बंगाल की एशिआटिक सोसायटी, पेरिस का बिबलि-

---

१ Sanskrit Buddhism.

ओथेक नाशनाल, इंगलैण्ड की रायल एशिआटिक सोसायटी, और इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में बँट गया। बर्नूफ ने पेरिस के ग्रन्थों के आधार पर अपना बौद्धधर्म का इतिहास फ्रेंच भाषा में लिखा और सद्धर्म पुण्डरीक का अनुवाद किया।

इधर नेपाल के राजमन्त्री राणा जगबहादुर ने एक बौद्ध विहार पर कब्जा कर उसके ग्रन्थ सडक पर फेक दिये थे। रेसिडेंसी के डाक्टर राइट ने इनको माँग लिया और केम्ब्रिज की यूनिवर्सिटी को दान दे दिया। बंगाल की एशिआटिक सोसायटी को हाब्सन् का जो संग्रह मिला था उसकी सूची डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने तैयार की जो १८८२ में नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर[1] के नाम से प्रकाशित हुई। केम्ब्रिज के संग्रह का सूचीपत्र प्रोफेसर सी० सी० बेण्डल् ने १८८३ मे प्रकाशित किया। इन सूचीपत्रों के प्रकाशित होने से महायान धर्म के सिद्धान्तो के सम्बन्ध में तथा उनके विकास के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातें मालूम हुई और विद्वानों का ध्यान बौद्ध संस्कृत साहित्य की ओर गया। राजेन्द्रलाल मित्र ने ललित विस्तर और अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता बिब्लिओथिका इण्डिका में प्रकाशित किया। और बेण्डल् महाशय ने शिक्षा-समुच्चय प्रकाशित किया। फ्रांसीसी विद्वान् सेनार्त ने महावस्तु अवदान तीन खण्डों मे और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने स्वयंभू पुराण प्रकाशित किया। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में बेण्डल् १८८४ मे नेपाल गये। महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने १८९७ में नेपाल की यात्रा की, सिलवें लेवी भी नेपाल गये और असंग रचित सूत्रालंकार की एक प्रति उनके हाथ लगी जिसको फ्रेंच अनुवाद के साथ उन्होंने प्रकाशित किया। १८९८-९९ में बेण्डल् के साथ हरप्रसाद शास्त्रीजी फिर नेपाल गये और इस समय शास्त्रीजी ने दरबार के पुस्तकालय की पोथियों का सूचीपत्र तैयार किया जो १९०५ में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा भाग १९१५ में प्रकाशित हुआ। बङ्गाल की एशिआटिक सोसायटी मे जो बौद्ध संस्कृत साहित्य का संग्रह १८९७ के बाद से हुआ था उसका सूचीपत्र शास्त्रीजी ने १९१६ में प्रकाशित किया। शास्त्रीजी का ख्याल है कि तिब्बत और चीन के पूर्व भाग में संस्कृत के अनेक ग्रन्थ खोजने से मिल सकते है। इधर मध्य एशिया में तुर्फान, काशगर, खुतन, तोखारा और कूचा में खोज में बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा लेख और चित्र मिले है। युआन च्वांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि ७वीं शताब्दी में इस प्रदेश मे बौद्धधर्म का प्रचुरता से प्रसार था। यारकन्द और खुतन में महायान धर्म और उत्तरी भाग में सर्वास्तिवाद प्रचलित था। लेफ्टिनेण्ट बाबर को १८९० में भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन

---

१ Nepalese Buddhist Literature

पोथी मिली थी। डाक्टर होअर्नले ने इस पोथी को पढ़ा। यह गुप्त लेख में लिखी हुई थी और इसका समय पाँचवीं शताब्दी के लगभग था। इस अन्वेषण का फल यह हुआ कि काश्मीर, लद्दाख और काशगर के पोलिटिकल एजेण्टों को ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने पुरानी पोथियों की खोज का आदेश किया। १८९२ में द्युत्रुएल-द-रहें[1] ने खुतन में तीन पोथियाँ पायीं। इनमें एक ग्रन्थ खरोष्ट्री लिपि में है। यह पालि धम्मपद का प्राकृत रूपान्तर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राकृत मे भी बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थ लिखे जाते थे। सर आरेल स्टाइन ने खुतन के चारो ओर १९०१ में खोज करना आरम्भ किया। स्टाइन की देखादेखी जर्मनी के विद्वानों ने १९०२ में ग्रुनवेडल और हुथ को तुर्फान भेजा। पिशेल के उद्योग से जर्मनी मे खोज की एक कमेटी बनायी गयी और इस कमेटी की ओर से १९०४ और १९०७ मे ल कोक[2] और ग्रुनवेडल की अध्यक्षता में तुर्किस्तान को मिशन भेजे गये। इन लोगों ने कूचा और तुर्फान का कोना-कोना ढूँढ़ डाला। १९०६-१९०८ में स्टाइन ने तुनहुआंग में किताबों का एक बहुत बड़ा ढेर पाया।

इस खोज से कई नई भाषाओं तथा लिपियों के अस्तित्व का पता चला है। मगोल, तोखारी इत्यादि भाषाओं में बौद्धग्रन्थों के अनुवाद मिले हैं। सबसे बडी बात यह मालूम हुई है कि संस्कृत में भी एक निकाय था। इस निकाय के कुछ अश ही प्राप्त हुए हैं। यह निकाय सर्वास्तिवाद का निकाय था। उदानवर्ग, एकोत्तरागम और मध्यमागी के अंश प्राप्त हुए है। जो संग्रह इन खोजों से प्राप्त हुआ है उसका अध्ययन किया जा रहा है। अनुमान किया जाता है कि कई वर्षो के निरन्तर परिश्रम के उपरान्त ही प्राप्त ग्रन्थो का पूरा विवरण प्रकाशित हो सकेगा। अभी तक इस निकाय के विनय और धर्मग्रन्थों के अंश ही मिले हैं।

यहाँ सर्वास्तिवाद का संक्षेप में विवरण देना आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है। बौद्धधर्म के अठारह निकायों (सम्प्रदायों) में सर्वास्तिवाद की भी गणना है। एक समय इसका सबसे अधिक प्रसार और प्रभाव था। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, सर्वास्तिवादियों के मत में बाह्य वस्तुजात और आध्यात्मिक वस्तुजात दोनो का अस्तित्व है। यह निकाय स्थविरवाद से बहुत पहले पृथक् हो गया था। दीपवंस से मालूम होता है कि वैशाली की धर्म संगीति के अनन्तर महीशासक स्थविरवाद से और महीशासक से 'सब्बत्थिवाद' और धर्मगुप्त पृथक् हो गये। चीनी यात्री इत्-सिंग के[3] विवरण से ज्ञात होता है कि उसके समय में चार प्रधान निकाय थे जिनमे

१. Dutreuil de Rheins.
२. Le Coq.
३. I-tsing : Record of the Buddhist Religion, Introduction, p XXIII

से एक आर्य-मूल सर्वास्तिवाद निकाय था। इसके अन्तर्गत मूल सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय निकाय थे। इससे यह स्पष्ट है कि इन अन्तिम तीन वादों में और मूल सर्वास्तिवाद मे विशेष अन्तर न था, अन्यथा वह सब एक निकाय के विभिन्न अंग न समझे जाते।

इस निकाय का इतिहास वास्तव में अशोक के समय की धर्मसंगीति से आरम्भ होता है। इसी संगीति मे मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्थु का संग्रह किया था। इस ग्रन्थ का उद्देश्य अपने समय के उन वादों का खण्डन करना था जो स्थविरवाद को नहीं मान्य थे। इस ग्रन्थ में 'सब्बत्थिवाद' के विरुद्ध केवल तीन प्रश्न उठाये गये हैं—(१) क्या एक अर्हत् अर्हत्व से हीन हो सकता है? (२) क्या समस्त वस्तु-जात प्रत्यक्ष ग्राह्य है? और (३) क्या चित्त-सन्तति समाधि है? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर सब्बत्थिवाद के अनुसार स्थविरवाद के प्रतिकूल था। अशोक के समय मे जब कथावत्थु का संग्रह हुआ तब इस निकाय का विशेष प्रभाव नही मालूम पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि गान्धार और काश्मीर में पहले-पहल वैभाषिक नाम से इस निकाय का उत्थान हुआ और इन प्रदेशों में इसने विशेष उन्नति प्राप्त की। 'वैभाषिक'[1] शब्द की व्युत्पत्ति विभाषा शब्द से है। ज्ञानप्रस्थान नामक ग्रन्थ की वृत्ति का नाम 'विभाषा' है। ज्ञानप्रस्थान के रचयिता कात्यायनी पुत्र थे। यह सर्वास्तिवादी थे। 'विभाषा' का रचनाकाल कनिष्क के राज्य-काल के पीछे है। विभाषा में सर्वास्तिवाद निकाय के भिन्न-भिन्न आचार्यों का मत सावधानी के साथ उपनिबद्ध किया गया है जिसमें पाठक अपनी रुचि के अनुसार जिस मत का चाहे ग्रहण कर लें। इसी कारण इसका नाम विभाषा है। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र सर्वास्तिवादियों का प्रधान ग्रन्थ है। विभाषा के रचयिता वसुमित्र थे और इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'महाविभाषाशास्त्र' हुआ।

विभाषा ग्रन्थ अपने असली रूप में उपलब्ध नही है। इसका कियदंश ही मिला है जिसके देखने से मालूम होता है कि यह विस्तार और उत्कृष्टता मे अत्थ कथा से किसी प्रकार कम न था। इस ग्रन्थ से इनकी दार्शनिक पद्धति गठी मालूम पड़ती है। परमार्थ (४९९-५६९ ई०) के अनुसार छठी शताब्दी में यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ का प्रधान विषय था। इस समय बौद्धों से सांख्यों का विवाद चल रहा था।

फ़ाहियान[2] (३९९-४१४ ई०) अपने यात्रा-विवरण में लिखता है कि सर्वास्तिवाद के अनुयायी पाटलिपुत्र और चीन मे थे पर उसका विनयपिटक उस समय तक लिपिबद्ध नही हुआ था। युआन च्वांग (६२९-६४५ ई०) के समय में इस

---

१ Bibliotheca Buddhica XXI p. 12.
विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः। विभाषां वा विदन्ति वैभाषिकाः।

२ Legge : Fa-hien, p. 99.

निकाय का अच्छा प्रचार था। उसके अनुसार काशगर, उद्यान (स्वात), उत्तरी सीमा के कई अन्य प्रदेश, फ़ारस, कन्नौज और राजग्रह के पास किसी एक स्थान में इस मत का प्राधान्य था यद्यपि युआन च्वांग तेरह स्थानों का उल्लेख करता है जहाँ सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था परन्तु खास भारतवर्ष में इस निकाय के उतने अनुयायी नहीं थे जितने कि अन्य निकायों के थे। इत्सिंग सातवीं शताब्दी में भारत आया (६७१-६९५ ई०)। वह स्वयं सर्वास्तिवाद का अनुयायी था। वह इस निकाय का पूरा विवरण देता है। इत्सिंग के[1] अनुसार इसका प्रचार मगध, लाट, सिन्धु, दाक्षिणात्य, पूर्व भारत, सुमात्रा, जावा, चम्पा (कोचीन-चाइना), चीन के दक्षिण-पश्चिम-पूर्व के प्रान्त तथा मध्य एशिया में था। इस विवरण से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के पहले या पीछे किसी अन्य निकाय का इतना प्रचार नहीं हुआ जितना कि सर्वास्तिवाद निकाय का इस समय था, इत्सिंग के अनुसार इस निकाय का त्रिपिटक तीन लाख श्लोकों में था। चीनी भाषा में बौद्ध-साहित्य का जो भाण्डार उपलब्ध है उसके देखने से मालूम होता है कि इस निकाय का अपना अलग विनयपिटक और अभिधर्मपिटक था। इत्सिंग ने सर्वास्तिवाद के समग्र विनयपिटक का चीनी भाषा में अनुवाद किया और उनके प्रचलित विनय के नियमों पर स्वयं एक ग्रन्थ लिखा। भारतवर्ष में केवल मूल सर्वास्तिवाद के ही अनुयायी थे। लंका में यह वाद प्रचलित नहीं था। मूलसर्वास्तिवाद के अन्य तीन विभाग मध्य एशिया में पाये जाते थे। पूर्व और पश्चिम चीन में केवल धर्मगुप्त प्रचलित था। वासिलीफ[2] कहते हैं कि तिब्बत का विनय सर्वास्तिवाद निकाय का है।

सिलवें लेवी के अनुसार संस्कृत के विनय ग्रन्थ पहले-पहल तीसरी या चौथी शताब्दी में संगृहीत हुए। एकोत्तरागम (=पालि अगुत्तर निकाय), दीर्घागम (=दीघनिकाय), मध्यमागम (=मज्झिम निकाय) के अंश पूर्वी तुर्किस्तान में खोज में मिले हैं। धर्मत्रात के उदानवर्ग (=उदान) के भी अंश मिले हैं। लूडर्ज मूल संस्कृत ग्रन्थ का संपादन कर रहे है। प्रातिमोक्ष सूत्र के एक तिब्बती और चार चीनी अनुवाद मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि प्रातिमोक्ष-सूत्र विनयपिटक में था। पालि के विनयपिटक के ग्रन्थों के नाम संस्कृत निकाय के ग्रन्थों के नाम से मिलते हैं। स्थविरवाद के समान सर्वास्तिवाद के अभिधर्म ग्रन्थों की भी संख्या सात है पर नाम प्रायः भिन्न है। सर्वास्तिवादी ज्ञानप्रस्थान को अपना मुख्य ग्रन्थ समझते है और अन्य छः ग्रन्थ एक प्रकार के परिशिष्ट हैं। ज्ञान प्रस्थान काय है और अन्य छः ग्रन्थ पाद हैं। जो सम्बन्ध वेद-वेदांग का है वही

---

१. I-tsing : Record of the Buddhist Religion, Introduction, pp. XXII-XXIII

२ Wassilief : Buddhismus p. 96.

इनका सम्बन्ध है। इन अभिधर्म ग्रन्थो का उल्लेख सबसे पहले यशोमित्र की अभिधर्मकोशव्याख्या[1] (कारिका ३ की व्याख्या) मे पाया जाता है। ज्ञान प्रस्थान पर दो वृत्तियाँ हैं—विभाषा और महाविभाषा। प्रवाद है कि वसुमित्र ने विभाषा का संग्रह किया था। महाविभाषा एक बृहत् ग्रन्थ है और प्रामाणिक माना जाता है। यह बौद्ध अभिधर्म का एक प्रकार का विश्वकोष है। महाविभाषा बृहत् आकार होने के कारण एक छोटे ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिये आचार्य वसुबन्धु ने कारिकारूप में अभिधर्म कोष लिखा। वसुबन्धु का विरोधी संघभद्र था। उसने इस ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए अभिधर्मन्यायानुसार और अभिधर्मसमयप्रदीपका रचा। यह मूल संस्कृत ग्रन्थ अप्राप्य है। चीनी अनुवाद उपलब्ध है। पालि के अभिधर्म ग्रन्थों में और इनमें कोई समानता नही पायी जाती।

सौत्रान्तिक इन अभिधर्म ग्रन्थों को बुद्धवचन न मानकर केवल सामान्य शास्त्र मानते थे। वह केवल सूत्रान्तों को प्रमाण मानते थे। इसीलिए इनको सौत्रान्तिक कहते हैं। सौत्रान्तिक स्वसंवित्ति के सिद्धान्त को मानते थे। इनका कहना था कि वस्तु स्वभाव से नाशवान् है, वे अनित्य नही हैं, पर क्षणिक है। उनका परमाणुवाद के विकास में हाथ है। उनका कहना है कि अणुओं में स्पर्श नही है क्योंकि अणु के अवयव नहीं होते इसलिये एक अवयव का दूसरे अवयव से स्पर्श नही होता। अणुओं में निरन्तरत्व है।

---

१ Bibliotheca Buddhica XXI, p. 12.—श्रूयन्ते ह्यभिधर्मशास्त्राणां कर्तारः। तद्यथा। ज्ञानप्रस्थानस्य आर्यकात्यायनीपुत्रः कर्ता। प्रकरणपादस्य स्थविरवसुमित्रः। विज्ञानकायस्य स्थविरदेवशर्मा। धर्मस्कन्धस्य आर्यशारिपुत्रः। प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायनः। धातुकायस्य पूर्णः। संगीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिल

राष्ट्रभाषा के विकास का दायित्व

भारतीय संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनका इस विषय में विशेष कर्तव्य है। उनको यह समझना चाहिए कि इस कार्य में उदारता, सहिष्णुता से काम लेने से ही सफलता मिल सकती है। अपनी मातृभाषा के लिए सबको पक्षपात होता है। अब जिसकी भाषा का साहित्य प्राचीन और उत्कृष्ट है वह किसी दूसरी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं तो उसका यह कारण नहीं है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा से अधिक उत्कृष्ट मानते है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे अनुभव करते हैं कि राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने के लिए तथा परस्पर विचार-विनिमय की सुविधा के लिए एक राष्ट्रभाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। उन्होंने राष्ट्रहित मे ही हिन्दी को स्वीकार किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी उनकी मातृभाषा का स्थान ले लेगी। यह कार्य अहिन्दी भाषा-भाषियों के हार्दिक सहयोग से और उनकी सद्‌भावना द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नही है कि जो थोड़ा-बहुत विरोध कहीं-कहीं आज भी दिखाई देता है वह दूर हो जायेगा, यदि हम लोग सतर्कता से काम लें और विनयपूर्वक हिन्दी के प्रचार मे संलग्न हों। किन्तु यह मान लेना अनुचित होगा कि दक्षिण भारत मे हिन्दी सीखने को तीव्र अभिलाषा का प्रमाण पाते हैं। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा द्वारा बहुत अच्छा काम हो रहा है और हिन्दी का प्रचार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। मैसूर, त्रिवांकूर, आन्ध्र तथा कर्नाटक विश्वविद्यालय ने हिन्दी को माध्यम स्वीकार करने का निश्चय किया है। कहीं-कहीं हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप में नियत पाठ्यक्रम में स्थान पा गयी है और यह देखा गया है कि ७५ प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दी लेना पसन्द करते हैं। जो थोड़ा-बहुत विरोध दिखाई पड़ता है उसके लिए हम स्वयं उत्तरदायी है। हमको अपना कार्य इस प्रकार नहीं करना चाहिए जिससे हमारे भाइयों पर यह प्रभाव पड़े कि हम अपनी भाषा उन पर लादना चाहते है. असहिष्णुता और जल्दबाजी से हिन्दी का प्रचार नहीं होगा। हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि दूसरे राष्ट्रहित की भावना से प्रेरित होकर और एक सामान्य

संस्कृति को विकसित करने के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करें। हमारी तनिक भी इच्छा नहीं है कि हिन्दी अन्य भाषाओं को अपने स्थान से परिच्युत करे। हम केवल इतना चाहते हैं कि अहिन्दी भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी का भी अध्ययन करें जिससे शनैः-शनैः हिन्दी व्यापक रूप से देश में फैल जाय। हम चाहते है कि सबकी समवेत चेष्टा से हिन्दी भाषा का साहित्य समृद्ध और उज्ज्वल हो, जिसमे उसको राष्ट्रीय पद प्राप्त हो सके यदि उस पर सबको समान रूप से उचित गर्व हो।

राष्ट्रभाषा केवल राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा प्रदान नहीं करती वरन् उसके साहित्य द्वारा राष्ट्र में एकरूपता की ओर भी आवश्यकता है। हमारा देश विशाल है। अनेक जातियाँ यहाँ बसती हैं, जिनके आचार-विचार भिन्न हैं। इन सबको एकमत्य में ग्रन्थित करने के लिए कुछ सामान्य प्रतीक और सामान्य उद्देश्यों की आवश्यकता है। इनके अभाव मे विविध समुदायों में संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। हमारी सामान्य आवश्यकतायें और अभिलाषायें हममें एकरूपता ला रही है। जिन विश्वव्यापी शक्तियों ने हमें स्वतन्त्रता दिलायी है, उनका कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। ये शक्तियाँ राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की ही है। यह युगधर्म ही इनके मार्ग में जो बाधा उपस्थित करेगा वह विनष्ट होगा। सम्प्रदाय इस युग मे पनप नहीं सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य की इन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा। किन्तु उसमे यह सामर्थ्य तभी आ सकती है जब हिन्दी भाषा-भाषियों की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यो को अपने में आत्मसात् करे और उत्तर-दक्षिण के भेद को मिटा दे। यदि यह तर्क ठीक है तो इसका परिणाम यह निकलता है कि हिन्दी भाषा-भाषियों को दक्षिण की एक भाषा का अवश्य अध्ययन करना चाहिए (उत्तर की भाषाओं को सीखने में हम लोगों को कोई कठिनाई नहीं है)।

यदि सब एक लिपि को स्वीकार कर लें तो यह काम और भी सुगम हो जायेगा। किन्तु इनकी अपेक्षा दक्षिण की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना अधिक आवश्यक है। भविष्य में किसी भी व्यक्ति को शिक्षित नही समझना चाहिए जब तक वह दो-तीन देशी भाषाओं का ज्ञान नही रखता है। कम-से-कम हिन्दी भाषा-भाषियों को अन्य भाषाओं के साहित्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। बंगला तथा गुजराती के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम ठीक विवेचन करें तो हमें मालूम होगा कि सब देशी भाषाओं मे प्रायः एक ही प्रकार का झुकाव पाया जाता है। आधुनिक युग मे राष्ट्रीयता देश-भक्ति की प्रेरणा प्रधान रही है और यह प्रेरणा सब भारतीय साहित्य मे समान रूप से पायी जाती है। ये सब साहित्य यूरोप के साहित्य से भी प्रभावित हुए हैं। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सब पर योरोपीय साहित्य का प्रभाव पड़ा है।

सभी कमोबेश आधुनिक विचारधाराओं से भी प्रभावित हुए है। यह इस बात का प्रमाण है कि समस्त भारत स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त कुछ देशव्यापी प्रभावो से भी प्रभावित हो रहा है। यदि हम विविध भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करे तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त कराना हम हिन्दी भाषा-भाषियों का कर्तव्य है। इसका यह अर्थ नही है कि केन्द्रीय शासन को इस विषय मे कुछ करना ही नही है। किन्तु हमारा कुछ ऐसा स्वभाव बन गया है कि सब कार्यों के लिए सरकार का मुँह ताकते है। जनतन्त्र इस तरह नही पुष्ट हो सकता है। सरकार की शक्ति और उसके साधन की भी सीमा है। जनता का सहयोग प्राप्त किये बिना गवर्नमेण्ट भी अपनी योजना मे सफल नही हो सकती। पुन साहित्य की वृद्धि के लिए हमको अपने कलाकारो और लेखको पर ही मुख्यत: निर्भर करना पड़ेगा। ऊँचे दर्जे के लेखकों तथा उनके द्वारा स्थापित सस्थाओं की समवेत क्रिया से ही हम अभिलषित फल पा सकते हैं। राज्य ऐसी सस्थाओं की स्थापना में सहायक हो सकता है और उनको आवश्यक सहायता प्रदान कर सकता है। किन्तु कार्य तो साहित्यकारों को ही करना होगा। हिन्दी का क्षेत्र विशाल है। दस राज्यो की यह प्रादेशिक राजभाषा है। हिन्दी की प्रगति द्रुत वेग से हो रही है। किन्तु कुछ आवश्यक कार्य सम्पन्न नही हो रहे हैं। एक निश्चित योजना की बड़ी कमी है।

यदि हम हिन्दी का व्यापक प्रचार चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम प्रत्येक देशी भाषा के लिए एक कोश, एक व्याकरण, एक पाठावली तैयार करें। इस दिशा में थोड़ा काम हुआ है। किन्तु वह सन्तोषजनक नहीं। खेद का विषय है कि अंग्रेजी-हिन्दी का कोई अच्छा कोश अभी तक तैयार नही हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हो रहे है, किन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निवेदन करना आवश्यक है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो सब देशी भाषाओं में समान पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हों। विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्य-पुस्तको के तैयार करने का भी कार्य अत्यन्त आवश्यक है। विदेशी भाषाओ मे लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। इन सब कार्यों से अधिक महत्त्व का कार्य मौलिक ग्रन्थों की रचना का है जो कला और भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट हों। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सफल हों। यह कार्य आदेश देने से नहीं हो सकता।

साहित्य एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसका समाज पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। बड़े-बड़े कलाकार ही उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि करते हैं। वे टेकनीक को पूर्ण करते हैं, भाषा को अलंकृत करते है और उसे सूक्ष्म और कोमल भावो और अनुभूतियों को व्यक्त करने की सामर्थ्य प्रदान करते है। कलाकार अपने आन्तरिक

संस्कृति को विकसित करने के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करें। हमारी तनिक भी इच्छा नहीं है कि हिन्दी अन्य भाषाओं को अपने स्थान से परिच्युत करे। हम केवल इतना चाहते हैं कि अहिन्दी भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी का भी अध्ययन करे जिससे शनैः-शनैः हिन्दी व्यापक रूप से देश में फैल जाय। हम चाहते हैं कि सबकी समवेत चेष्टा से हिन्दी भाषा का साहित्य समृद्ध और उज्ज्वल हो, जिससे उसको राष्ट्रीय पद प्राप्त हो सके यदि उस पर सबको समान रूप से उचित गर्व हो।

राष्ट्रभाषा केवल राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा प्रदान नहीं करती वरन् उसके साहित्य द्वारा राष्ट्र में एकरूपता की ओर भी आवश्यकता है। हमारा देश विशाल है। अनेक जातियाँ यहाँ बसती हैं, जिनके आचार-विचार भिन्न हैं। इन सबको एकमत्य में ग्रन्थित करने के लिए कुछ सामान्य प्रतीक और सामान्य उद्देश्यों की आवश्यकता है। इनके अभाव मे विविध समुदायों मे संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। हमारी सामान्य आवश्यकतायें और अभिलाषायें हममे एकरूपता ला रही हैं। जिन विश्वव्यापी शक्तियों ने हमें स्वतन्त्रता दिलायी है, उनका कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। ये शक्तियाँ राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की ही हैं। यह युगधर्म ही इनके मार्ग में जो बाधा उपस्थित करेगा वह विनष्ट होगा। सम्प्रदाय इस युग में पनप नहीं सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को इन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा। किन्तु उसमे यह सामर्थ्य तभी आ सकती है जब हिन्दी भाषा-भाषियों की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यों को अपने मे आत्मसात् करे और उत्तर-दक्षिण के भेद को मिटा दे। यदि यह तर्क ठीक है तो इसका परिणाम यह निकलता है कि हिन्दी भाषा-भाषियों को दक्षिण की एक भाषा का अवश्य अध्ययन करना चाहिए (उत्तर की भाषाओं को सीखने में हम लोगो को कोई कठिनाई नहीं है)।

यदि सब एक लिपि को स्वीकार कर लें तो यह काम और भी सुगम हो जायेगा। किन्तु इनकी अपेक्षा दक्षिण की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना अधिक आवश्यक है। भविष्य में किसी भी व्यक्ति को शिक्षित नहीं समझना चाहिए जब तक वह दो-तीन देशी भाषाओं का ज्ञान नहीं रखता है। कम-से-कम हिन्दी भाषा-भाषियों को अन्य भाषाओं के साहित्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। बंगला तथा गुजराती के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम ठीक विवेचन करें तो हमें मालूम होगा कि सब देशी भाषाओं मे प्रायः एक ही प्रकार का झुकाव पाया जाता है। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता देश-भक्ति की प्रेरणा प्रधान रही है और यह प्रेरणा सब भारतीय साहित्य मे समान रूप से पायी जाती है। ये सब साहित्य यूरोप के साहित्य से भी प्रभावित हुए हैं। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सब पर योरोपीय साहित्य का प्रभाव पड़ा है।

सभी कमोबेश आधुनिक विचारधाराओं से भी प्रभावित हुए है। यह इस बात का प्रमाण है कि समस्त भारत स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त कुछ देशव्यापी प्रभावों से भी प्रभावित हो रहा है। यदि हम विविध भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त कराना हम हिन्दी भाषा-भाषियों का कर्तव्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि केन्द्रीय शासन को इस विषय में कुछ करना ही नही है। किन्तु हमारा कुछ ऐसा स्वभाव बन गया है कि सब कार्यों के लिए सरकार का मुँह ताकते है। जनतन्त्र इस तरह नहीं पुष्ट हो सकता है। सरकार की शक्ति और उसके साधन की भी सीमा है। जनता का सहयोग प्राप्त किये बिना गवर्नमेण्ट भी अपनी योजना में सफल नहीं हो सकती। पुनः साहित्य की वृद्धि के लिए हमको अपने कलाकारों और लेखकों पर ही मुख्यतः निर्भर करना पड़ेगा। ऊँचे दर्जे के लेखकों तथा उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं की समवेत क्रिया से ही हम अभिलषित फल पा सकते हैं। राज्य ऐसी संस्थाओं की स्थापना में सहायक हो सकता है और उनको आवश्यक सहायता प्रदान कर सकता है। किन्तु कार्य तो साहित्यकारों को ही करना होगा। हिन्दी का क्षेत्र विशाल है। दस राज्यों की यह प्रादेशिक राजभाषा है। हिन्दी की प्रगति द्रुत वेग से हो रही है। किन्तु कुछ आवश्यक कार्य सम्पन्न नहीं हो रहे हैं। एक निश्चित योजना की बडी कमी है।

यदि हम हिन्दी का व्यापक प्रचार चाहते है तो हमारा कर्तव्य है कि हम प्रत्येक देशी भाषा के लिए एक कोश, एक व्याकरण, एक पाठावली तैयार करें। इस दिशा में थोड़ा काम हुआ है। किन्तु वह सन्तोषजनक नहीं। खेद का विषय है कि अंग्रेजी-हिन्दी का कोई अच्छा कोश अभी तक तैयार नहीं हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हो रहे है, किन्तु इस सम्बन्ध में इतना निवेदन करना आवश्यक है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो सब देशी भाषाओं में समान पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हों। विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्य-पुस्तकों के तैयार करने का भी कार्य अत्यन्त आवश्यक है। विदेशी भाषाओं में लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। इन सब कार्यों से अधिक महत्त्व का कार्य मौलिक ग्रन्थों की रचना का है जो कला और भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट हों। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सफल हों। यह कार्य आदेश देने से नहीं हो सकता।

साहित्य एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसका समाज पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पडता है। बड़े-बड़े कलाकार ही उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि करते है। वे टेकनीक को पूर्ण करते है, भाषा को अलंकृत करते हैं और उसे सूक्ष्म और कोमल भावों और अनुभूतियों को व्यक्त करने की सामर्थ्य प्रदान करते है। कलाकार अपनी आन्तरिक

अनुभूतियों को अपनी कृतियों मे व्यक्त करता है, अपने युग की विश्वदृष्टि से जो विभिन्नता वह अपने मे पाता है, उसे उसका व्यक्तित्व अपने ढंग से व्यक्त करता है। इस प्रकार वह दूसरों को वह अनुभव कराता है जो उनके लिए नये हैं और भाव तथा ज्ञान की नयी गहराइयों को प्रकाश में पाता है। कलाकार इस प्रकार मानव अनुभूति को समृद्ध करता है। जितनी मात्रा में कलाकार की सामाजिक जागरूकता होती है, उसी मात्रा में उसका प्रभाव समाज पर पड़ता है। यदि उसको उन शक्तियों का स्पष्ट ज्ञान है जो समाज को बदल रही हैं, यदि वह सामाजिक विकास की दिशा का ज्ञान रखता है तो वह अपनी जागरूकता को अपनी कृतियों द्वारा दूसरों को दे सकता है तथा वह दूसरो के साथ सहयोग कर ऐसी संस्थाओं को जन्म दे सकता है जो सामाजिक विकास की दिशा को मानव-समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपयुक्त बना सके।

विज्ञान ने मनुष्य को वह शक्ति प्रदान की है कि यदि वह चाहे तो विकास की दिशा को निर्धारित कर सकता है। विकास की क्रिया अब एक अन्धप्रणाली नही है, बुद्धिपूर्वक उसकी दिशा निश्चित हो सकती है। यह लाभ कला को भी प्राप्त है। जब तक समाज मे ऐसे व्यक्तियों का समुदाय जन्म नही लेता जो उन शक्तियो का ज्ञान रखते हैं जो सामाजिक परिवर्तन के आधार को निश्चित करती हैं, तब तक समाज में जागरूकता का एक ऊँचा स्तर उत्पन्न नही हो सकता, जब तक ऐसा नहीं होता तब तक संस्कृति-विकास का क्रम समाज के हित की दृष्टि से नही, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर चलता रहता है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज के विकास और मूल्यो की सृष्टि के लिए साहित्य का कितना महत्त्व है। यह सत्य है कि सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन ने साहित्य के क्षेत्र मे आक्रमण कर साहित्य के महत्त्व को घटा दिया है। विज्ञान और टेकनालाजी के आधिपत्य ने भी साहित्य की मर्यादा को घटाया है। किन्तु यह असन्दिग्ध है कि साहित्य आज भी जो कार्य कर सकता है वह कोई दूसरी प्रक्रिया नही कर सकती। विज्ञान-वेत्ताओं की आर्थिक अवस्था दयनीय नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके अनु-सधान का उपयोग उद्योग-व्यवस्था के क्षेत्र में ही हो सकता है। यही कारण है कि बड़े-बड़े व्यवसायी अपनी एक प्रयोगशाला भी रखते है। भौतिक गवेषणा का उपयोग भी व्यापार के लिए होता है। अतः विज्ञानवेत्ता सत्य की अराधना अविचलित भाव से कर सकता है। व्यापार के लाभ के लिए सिनेमा आदि के मालिक तथा ग्रन्थ प्रकाशक साहित्य का भी उपयोग करते हैं। किन्तु इस विषय मे साहित्यिक स्वतन्त्रता नहीं है। उसको वही लिखना पड़ता है जिसका व्यापार के लिए मूल्य है। इसलिए जो लेखक कटु सत्य व्यक्त करता है, उसको किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता। विश्वविद्यालयों में भी साहित्य के क्षेत्र में जो काम होता है उसका प्राय पुराने साहित्य के मूल्याकन से ही रहता है आलोचना

को प्रधानता दी जाती है। इसी में साहित्य की समाप्ति होती है। कोई भी विश्व-विद्यालय किसी काव्य या उपन्यास की रचना के लिए डाक्टर की उपाधि नही देता। प्राचीन साहित्य की व्याख्या या आलोचना करना ही उनका मुख्य कार्य है। उसमें सन्देह नहीं कि इसका अपना महत्त्व है। किन्तु कोई कारण नही कि नवीन रचनाएँ जो साहित्यिक भण्डार को समृद्ध करती हैं और इस प्रकार उसे बल और ओज प्रदान करती हैं, क्यों न महत्त्वपूर्ण समझी जाएँ। मेरी समझ में यदि साहित्य को अपने सामाजिक कर्तव्य का पालन करना है तो इस प्रकार की कृतियों को महत्त्व और प्रोत्साहन मिलना चाहिए। ऐसी कृतियों का तभी मूल्य है जब कलाकार निश्शंक होकर अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करता है। मानव सम्बन्धों के विषय मे, विशेषकर उस सम्बन्ध के विषय में जिनका गम्भीर महत्त्व है, जनता को ज्ञान कराना साहित्य का काम होना चाहिए। जहाँ विज्ञान भौतिक जगत् के विषय मे ज्ञान कराता है वहाँ सच्चा साहित्य मानव सम्बन्धों का ज्ञान कराता है। अतीत के अनुभव के आलोक में वर्तमान को देखना गुजर रहा है और जिसके भविष्य के बारे में टायनबी ऐसे इतिहासवेत्ता निराश हो गये हैं, निराश होने की आवश्यकता नही है। भारत ने स्वतन्त्रता अर्जित कर नवीन जीवन प्राप्त किया है। उसका जीवन अब स्थिर और जड़ नहीं रह सकता। उसकी समस्यायें ऐसी हैं जो उसको चुप बैठने नहीं देंगी। सारे एशिया के लिए एक नये युग का आरम्भ हो गया है। यह सच है कि दो युगों का भार हमारे दुर्बल कन्धों पर पड़ा है किन्तु इस कारण हमको अवसन्न और निराश नही होना चाहिए। विश्व आदि मानव के प्रति हमारी विशाल दृष्टि होनी चाहिए। विश्व की परिधि मे हमको अपने भविष्य का निर्माण करना है। हम हिन्दी भाषा-भाषी यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवमय स्थान पर बिठाना चाहते हैं तो हमको संकीर्णता, प्रान्तीयता और पक्षपात का परित्याग करना होगा।

भारत के विभिन्न साहित्यकारों की आराधना कर उनकी उत्कृष्टता को हिन्दी मे उत्पन्न कर, हिन्दी साहित्य को सचमुच राष्ट्रीय और समर्थ राष्ट्र के विकास का एक उपकरण बनाना हमारा-आपका कार्य है। इस दायित्व को हम दूसरों पर नहीं छोड़ सकते। यदि १० हिन्दी भाषा-भाषी राज्य हिन्दी के साहित्यकारों के सहयोग से एक निश्चित योजना बनावें और उसको मिल-जुलकर कार्यान्वित करें तो हिन्दी साहित्य बहुत आगे बढ़ सकता है। हमको यह भूलना चाहिए कि अब प्रचार का युग चला गया, यह काम करने का युग है। स्थानीय बोलियों के अध्ययन की हम अब तक उपेक्षा करते रहे। इधर अवश्य इस ओर ध्यान गया है और इस दिशा में कुछ अच्छा काम हो भी रहा है। लोकभाषाओं की कहावतें, मुहावरे, लोकगीत और उनके शब्दों का तथा आज के समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उनको तथा मानव की दृष्टि से उनका करना

एक सच्चे कलाकार का काम है। आज के युग ने सन्तुलन खो दिया है। हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है। उसके रहस्यों का उद्घाटन किया है और प्राकृतिक शक्तियों का अपने लिए उपयोग करना सीखा है। किन्तु विज्ञान की इस शक्ति के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न हो गई है उसके ज्ञान की अत्यन्त कमी है। जिन समस्याओं की हम उपेक्षा करते हैं वह मुख्यतः सामाजिक है और बिना इसका समाधान किये समाज की स्थिति ठीक नहीं हो सकती और वह अपने खोये हुए सन्तुलन को प्राप्त नहीं कर सकता।

किन्तु इस उद्योग-व्यवसाय के युग में जब रुपये के मापदण्ड से सब कुछ नापा जाता हो, एक सच्चे साहित्यकार का दम घुटता है, उसको सुरक्षा भी नहीं मिलती, मान आदि प्रतिष्ठान का क्या कहना। राज्य और समाज से ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। ऊँचे कलाकार को वह सब सुविधायें प्रदान करनी चाहिए जिनके मिलने पर ही वह अपनी सृजन शक्ति को प्रदर्शित कर सकता है।

व्यापार को सम्पूर्ण सत्य से क्या स्वीकार ? किन्तु मानव को सम्पूर्ण सत्य चाहिए। समाज को जागरूक करना, उसकी चेतना को जगाना, आज की समस्याओं को और उनके साधनों को प्रस्तुत कर समाज को विकास के कार्य मे बुद्धिपूर्वक अग्रसर करना साहित्य का कार्य है।

जितनी ही अधिक संख्या में हम सच्चे साहित्यकार उत्पन्न कर सकेंगे, उतना ही अधिक महत्त्व हिन्दी साहित्य को प्राप्त होगा। राष्ट्रभाषा के पुजारियों मे सद्विवेक, नवीन दृष्टि, विनिश्चय, सन्तुलन और साहस की आवश्यकता है।

हमको पश्चिमी यूरोप के समान, जिसने अपने सामंजस्य को खो दिया है, अपनी सांस्कृतिक संपत्ति से संग्रह करना बड़ा आवश्यक है, साहित्य भाषा के लिए उसमें अपने उपयुक्त शब्द और मुहावरे मिलेंगे जो किसी समय साहित्य मे प्रचलित थे, किन्तु किसी कारणवश उनका चलन बन्द हो गया। इस तरह भाषा समृद्ध और जानदार होगी। किन्तु इसका फल यह न होना चाहिए कि विभिन्न बोली बोलने वाले लोग अपने प्रदेश के लिए पृथक् राज्य की माँग करें। जहाँ प्रधान भाषाओं के आधार पर अन्य बातों का विचार करते हुए राज्य का पुनः संगठन होना चाहिए, वहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस भावना को इतना प्रोत्साहन न दिया जाय जिससे भारत के अनेक खण्ड हो जायें जो आत्मनिर्भर न हों और प्रान्तीयता के अन्य भाव को पुष्ट करें।

प्रगतिशील साहित्य*

वैसे तो प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा के सम्बन्ध मे अब भी विवाद चला आता है, किन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य प्रगतिशील साहित्य है। जीवन और मानव एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, परस्पर अन्योन्याश्रित होते है। इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सामाजिक परिवर्तन होते हैं। समाज के भीतर क्रियाशील रहते हुए भी अपने को अलग से देखने, आत्म-निरीक्षण करने की आवश्यकता सदैव होती है। किन्तु उससे पृथक् रहकर, जीवन-प्रवाह से हटकर व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। समाज के भीतर रहकर व्यक्ति को सामूहिक हित को दृष्टि में रखते हुए एक मर्यादा, बन्धन एवं अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है। मनुष्य और पशु में एक मुख्य भेद यह भी है कि मनुष्य का जीवन अपने समाज से मर्यादित होता है। अतः सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य को समाज से पृथक् करके, अमूर्त मानवता के स्वतन्त्र प्रतीक के रूप में सीमित न कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप मे देखे—ऐसे समाज के सदस्य के रूप मे जिसमें निरन्तर संघर्ष हो रहा है और इन संघर्षों के कारण जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

कहा जाता है कि कलाकार 'स्वान्तः सुखाय' रचना करता है। प्रत्येक रचनात्मक कृति द्वारा रचयिता को एक प्रकार का आन्तरिक सन्तोष या सुख प्राप्त होता है, इस अर्थ में यह धारणा यथार्थ मानी जा सकती है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह लगाया जाय कि कलाकार का और कोई उद्देश्य नही होता तो यह धारणा भ्रमपूर्ण होगी। अपने अध्ययन तथा अनुभूति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एव कलाकार का एक दर्शन, जीवन की व्याख्या का एक विशेष दृष्टिकोण होता है और उसकी रचना के पीछे यह दृष्टिकोण छिपा रहता है। जीवन के इस दृष्टिकोण के अनुसार कलाकार जीवन को एक विशेष दिशा में प्रगटित होते देखना चाहता है। कलाकार के मन में यह बात स्पष्ट हो अथवा अस्पष्ट, किन्तु

---

* जनवाणी अक्टूबर १९४८

उसकी रचना में भी उसकी यह अभिलाषा अपेक्षाकृत सुप्त अथवा चैतन्य रूप मे विद्यमान रहती है। हमारा जीवन पृथक् से दिखायी पड़ने वाले अनेक क्षेत्रो मे बँटा हुआ है। इन पृथक् क्षेत्रों के भीतर और इनमे परस्पर नाना प्रकार के संघर्ष हो रहे है। दर्शन अथवा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण इस संघर्ष और पृथकता से ऊपर उठकर सभी को एक सूत्र में सम्बद्ध करके और उन्हें यथास्थान रखकर समूचे जीवन-क्षेत्र का एक सम्बद्ध दृश्य (Unified View) प्रस्तुत करता है। यह जीवन-दर्शन जितना ही सुलझा हुआ होगा, साहित्यिक अथवा कलाकार की रचना सामाजिक प्रगति में उतनी ही सहायक हो सकेगी। जीवन के अन्तर्गत अनेक प्रकार के धर्मो, व्यक्ति, कुल, राष्ट्र तथा विश्व के बीच एक प्रकार का संघर्ष जान पड़ता है। साथ ही उनमें एक प्रकार की अन्योन्याश्रयता, शृंखला और परम्परा भी दिखाई देती है। वस्तुतः यह संघर्ष तभी दिखाई पड़ता है जब हम अन्योन्याश्रयता को दृष्टि से ओझल कर देते है और इन धर्मो को मर्यादित नही कर पाते, उनका उचित सामंजस्य नही कर पाते। उदाहरणार्थ राष्ट्रधर्म का हमे उससे भी उच्चतर विश्वधर्म के साथ सामंजस्य करना पड़ेगा। सामंजस्य होने पर राष्ट्र धर्म का सर्वथा लोप नहीं होता, वह केवल मर्यादित स्थान ग्रहण करता है, राष्ट्रधर्म और विश्वधर्म के बीच गहराई में न जाकर केवल सतह पर से देखने पर जो संघर्ष दृष्टिगोचर होता है उसका लोप होता है। चूँकि व्यक्ति राष्ट्र अथवा विश्व का अंग है। अतः राष्ट्र और विश्व के विकास के साथ ही व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होता है। जीवन के केन्द्र में मानव की प्रतिष्ठा की मूल भावना को लेकर चलने वाले प्रगतिशील साहित्यिक के लिए विश्वव्यापी जीवन-दृष्टिकोण का होना आवश्यक है।

प्रत्येक युग की सामाजिक व्यवस्था अपनी आवश्यकताओं के अनुसार एक विशेष दृष्टिकोण को जन्म देती है। प्राचीनकाल में भी, चाहे पौरस्त्य जगत् हो अथवा पाश्चात्य, जब तक एक प्रकार की आर्थिक संस्थाएँ और परम्पराएँ प्रचलित रहीं, उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए, तब तक समाज में इस जीवन-दृष्टि-कोण के सम्बन्ध में भी सहमति रही। किन्तु इस निरन्तर परिवर्तनशील संसार मे समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसकी भौतिक आर्थिक मूल भित्ति मे परिवर्तन होता रहता है और इस मूल भित्ति पर निर्मित विचारो का प्रासाद भी नया रूप ग्रहण करता रहता है। विचारधारा का तीव्र संघर्ष प्राचीन के विनाश और नवीन के उदय की सन्धि-बेला में होता है। प्राचीन के गर्भ से ही नवीन का सृजन करने वाली शक्तियाँ जन्म लेती है। समाज को अतीत की ओर ले जाने वाली तथा भविष्य की ओर ले जाने वाली शक्तियों मे संघर्ष होता है। प्राचीन के गर्भ से निकलकर नवीन भविष्य का निर्माण करने वाली शक्तियाँ प्रबलतर होती जाती है। विरोधी शक्तियों के क्रमिक विकास के प्रसंग में हमे

समाज में गुणात्मक परिवर्तन, कई स्तरों के एक साथ उल्लंघन अथवा उत्क्रान्ति के दर्शन होते है। वे विचारशील व्यक्ति जिनके तीव्र संवेदनशील कोमल मानस-पट पर क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनाएँ भी अपना प्रभाव अंकित कर जाती है, नये परिवर्तनो के क्रम-विकास के साथ समाज को नये विचार देते है।

नई व्यवस्था की स्थापना के साथ प्राचीन का सर्वथा लोप नहीं हो जाता। अर्वाचीन के भीतर भी प्राचीन बहुत कुछ बना रहता है। नवीन और प्राचीन मे एक नैरन्तर्य, एक शृंखला, एक परम्परा बनी रहती है। पूंजीवाद मे भी बहुत दुर्बल और क्षीण रूप मे सामन्तवाद बहुत दिनो तक वर्तमान रहता है और समाजवाद की स्थापना के साथ भी बहुत दिनों तक पूंजीवाद की कतिपय विशेषताएँ सम्बद्ध रहेंगी। विनाश और निर्माण के क्रम में अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच उनको आपस मे जोड़ने वाली एक अटूट कड़ी बनी रहती है। प्रगतिशील साहित्यिक इस ऐतिहासिक सत्य को हृदयंगम करते हुए अतीत का सर्वथा परित्याग नहीं करता; साधक तत्वों को वह चुन लेता है, बाधक तत्वों का परित्याग करता है। मनुष्य स्वभावत: परम्परापूजक होता है और जो जाति जितनी ही प्राचीन होती है, उसके भीतर अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता की भावना उतनी ही अधिक बद्धमूल होती है। अत: भारत जैसे प्राचीन देश में हमे नवीन सस्कृति के निर्माण की दृष्टि से अतीत के साधक एवं समर्थक तत्वों का उपयोग करना ही चाहिए।

अतीत की अनेक विचार-पद्धतियाँ जो आज हमे प्रतिगामी प्रतीत होती हैं, अपने समय के समाज के लिए बड़ी कल्याणप्रद रही हैं। भौतिकवाद तथा यथार्थ-वाद को मानकर चलने वाली विचारधाराएँ ही जनकल्याण के मार्ग का अनुसरण करती रही हैं और इसके विपरीत आध्यात्मिक अथवा 'विज्ञानवादी' विचार-धाराएँ सदैव अप्रगतिशील रही है; ऐसा सोचना उचित न होगा। विज्ञानवाद भी विशेष काल में प्रगतिशीलता का द्योतक था। उदाहरण के लिए हम बौद्धकाल की अप्रतिष्ठित निर्वाण की कल्पना को लें। निर्वाण की इस कल्पना के अनुसार साधक निर्वाण मे प्रवेश की क्षमता रखते हुए भी सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने को उससे वंचित रखता है; जब कि असंख्य जीव दु:ख से आहत हों और क्लेश-पाश मे फँसे हुए हों, ऐसी अवस्था में केवल अपने वैयक्तिक मोक्ष की ओर ध्यान देना उसे क्षुद्र प्रतीत होता है। निष्काम कर्म की भावना भी इसी काल में जन्म लेती है। कर्म बन्धन का हेतु है। बिना कर्म का परित्याग किए हुए मनुष्य आवागमन के चक्र से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता। किन्तु बिना कर्म में प्रवृत्त हुए साधक जनसमूह का उद्धार भी नहीं कर सकता। जन-कल्याण की दृष्टि से कर्म में प्रवृत्त होने की आवश्यकता तथा कर्म के स्वा-भाविक परिणामगत बन्धनों से निर्लिप्त रहने के उद्देश्य में सामंजस्य स्थापित करने

की दृष्टि से निष्काम कर्म के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी का काल निश्चय ही भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त गौरवपूर्ण अध्याय है। इस काल में भारतीय जीवन के प्रत्येक विभाग में सक्रियता के दर्शन होते हैं। इस समय निवृत्ति-मार्ग मे विश्वास रखने वाले भी प्रवृत्ति-पथ पर चलते दिखाई पड़ते है। भारतीय साधुओं ने मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वीय एशिया मे भारतीय संस्कृति के अखण्ड राज्य की स्थापना इसी काल में की थी। विदेशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध भी इसी काल मे सुदृढ़ हुआ।

जहाँ हमें अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत के उन तत्वो को ग्रहण करना है जो वर्तमानकाल मे पुरुषार्थ को प्रेरणा देने वाले है, वहां आज की अवस्था मे भार बनने वाली परम्पराओं का परित्याग कर हमें हल्का होना है और नवीन जीवन के विकासमान मूल्यो को अपनाना है। ये नवीन मूल्य कहाँ से आते है, उनका उपक्रम या सूत्रपात कहाँ से होता है, इस बात की खोज करने की आवश्यकता नहीं है। आज सारा संसार एक इकाई का रूप धारण कर रहा है। सभी देशों की समस्याएँ बहुत कुछ समान-सी है। पूँजीवादी शोषण से त्राण पाने की समस्या ही संसार के अधिकांश देशो की समस्या है। यह स्पष्ट है कि हमारे देश में आज जो परिस्थिति है, वह दूसरे जिन देशों में हमारे देश से पूर्व आई और उस परिस्थिति का जो हल दूसरे देशों ने पहले निकाला, उन देशों से हमें प्रेरणा ग्रहण करनी ही होगी। नवीन या विदेशी होने के कारण ही किसी जनकल्याणकारी विचार या मूल्य का परित्याग नहीं किया जा सकता। संस्कृतियाँ जब जीर्ण पड़ जाती है, तो नई संस्कृतियों के साथ संघर्ष होने से ही उनका कायाकल्प होता है। अपने पुराने रत्न जो कर्दम मे रहते है, वे भी इस संघर्ष से परिष्कृत होते है। जब कि सारा विश्व आज पूँजीवादी विषमता की चक्की मे पिसते हुए समान यातना भोग रहा है। यह स्वाभाविक है कि इस यातना से परित्राण पाने के लिए एकसमान विचारधारा अपनायी जाय। जो लोग नवीन मूल्यो को ग्रहण करने से भागते हैं और विचार-धारा सम्बन्धी संघर्ष से घबड़ाते हैं, वे अपने विकास के पथ को विरत करते है। समाज मे विभिन्न स्वार्थों के संघर्ष के कारण निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और इस संघर्ष के फलस्वरूप ही समाज विकास के पथ पर नये कदम बढ़ाता है। यदि क्रमागत विचारों और संस्थाओं को बिना आलोचना के स्वीकार कर लिया जाय तो भावी विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। समाज के अन्तर्गत विभिन्न स्वार्थों के संघर्ष और उसके फलस्वरूप समाज में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन करके हम सामाजिक विकास मे बोधपूर्वक सहायता दे सकते हैं।

पूँजीवाद के ह्रास के इस युग में और महायुद्ध के उपरान्त राष्ट्रीयता का अन्त नही हो रहा है—जैसा कि कुछ लोगों का विचार है। प्रत्येक युद्ध के पश्चात्

राष्ट्रीयता की ज़बर्दस्त लहर आया करती है। किन्तु राष्ट्रीयता की भावना भी अभिशाप नहीं है, यदि वह संकीर्ण, आक्रमणशील राष्ट्रीयता न हो और विश्व-धर्म से मर्यादित होकर चल सके। साहित्यिकों का कर्तव्य जनता को चिन्ताशील बनाना और मर्यादित राष्ट्रीयता के सच्चे रूप को समझाना है। उस संकुचित, विकृत राष्ट्रीयता से जनता को छुटकारा दिलाना है जिसमें जाति अथवा देश को अनावश्यक और अस्वाभाविक प्रधानता दे दी जाती है और जो वर्तमान सामाजिक समस्याओं के हल में बाधक है। एक लम्बी अवधि तक स्वातन्त्र्य-संग्राम में रत रहने के कारण हमारे देश में राष्ट्रीयता का जोर होना स्वाभाविक है। किन्तु अनुभव ने सिद्ध यही किया है कि इस राष्ट्रीयता की जड़ें गहरी नहीं थीं। यह राष्ट्रीयता देश के बँटवारा को रोकने में असमर्थ रही और बँटवारे के परिणामस्वरूप उसने जो रूप ग्रहण किया है, उसका समन्वय विश्व-धर्म के साथ करने में हमें काफी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। प्रान्त, समुदाय और जातियों के बीच कलह भारत का पुराना रोग रहा है, बँटवारे के बाद वह फिर उभड़ना चाहता है। प्रगतिशील साहित्यिकों का कर्तव्य इस विकृत राष्ट्रीयता के खतरों को पहचानने की चेतना जनता में उत्पन्न करना है। संसार में एक नये महायुद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। यदि महायुद्ध छिड़ा और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रहने वाले एक-दूसरे से बदला लेने के ही चक्कर में रहे तो दोनों का विनाश निश्चित है। यदि हम चाहते हैं कि आने वाले युद्ध में तटस्थ रहकर उसकी विभीषिकाओं से अपने देश की रक्षा करें तो हमें तटस्थ राष्ट्रों के एक तृतीय शिविर का निर्माण करना होगा। हम कम-से-कम दक्षिण-पूर्वीय एशिया के नव स्वतन्त्रता-प्राप्त राष्ट्रों तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए युद्धरत राष्ट्रों का इस प्रकार का तीसरा शिविर स्थापित कर सकते हैं। किन्तु दूसरे राष्ट्रों को हम अपने साथ तभी ला सकते हैं जब कि हम घरेलू झगड़े में फँसकर अपनी समस्त शक्ति उसी में नष्ट न कर दें, जब हम अपनी दृष्टि को उदार बनावें। यदि भारत प्रतिशोध की भावना से ऊपर न उठ सका, यदि उसने आर्थिक क्षेत्र में ऐसी प्रगतिशील नीति न अपनायी जिसके द्वारा वह अपने उत्पादन संकट आदि के प्रश्नों को हल करने के साथ अपने को सुदृढ़ बनाने में समर्थ हो और अपने पड़ोसी राष्ट्रों को भी महायुद्ध में तटस्थ रहने के लिए तैयार न कर सका तो हमारा भविष्य बहुत अन्धकारमय सिद्ध हो सकता है। प्रगतिशील साहित्यिकों को देश को इस विपत्ति की पूर्व सूचना देनी है। साहित्यिक अपने कर्तव्य का तभी निर्वाह कर सकता है जब कि वह जीवन का गहराई से अध्ययन करे, वह समाज की जीवनसरिता में ऊपरी तल पर संचारित होने वाली प्रवृत्तियों तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखे, अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति नीचे रहकर प्रच्छन्न रूप से कार्य करने वाली शक्तियों का भी अध्ययन करे। यह अध्ययन जन-जीवन से अलग रहकर नहीं किया जा सकता। प्रगतिशील साहित्य

को जीवन की समस्याओं का अध्ययन करना होगा, अपनी रचनाओं में उसे समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करना होगा, जनता की मूक अभिलाषाओं को वाणी देना होगा, इतिहास का अध्ययन करके उसकी जीवन-प्रदायिनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग-प्रदर्शन करना होगा। साहित्यिक अपने को जनता का पथ-प्रदर्शन करने योग्य तभी बना सकता है, जब कि वह अपने को जीवन-संघर्ष से सर्वथा पृथक् न रखे, उसमें जनसाधारण के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो, वह इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसके विकास की दिशा को पहचानने में समर्थ हो, उसकी जीवन-दृष्टि सही हो। इतने गुणों के अभाव में कितने ही कलाकार, जो प्रथम महायुद्ध के उपरान्त प्रगतिशील साहित्यिकों के शिविर में प्रविष्ट हुए थे, आज दिशा-भ्रमित होकर भटक रहे हैं। युद्धकाल में तथा उसके पश्चात् पुरानी मान्यताओं को भंग होता देखकर वे अवसाद, खिन्नता और विचार-कुंठा को प्राप्त हो रहे हैं। स्वस्थ जीवन्त दृष्टिकोण के अभाव में वे पलायनवाद का सहारा ले रहे हैं। कोई रोमन कैथोलिक दर्शन की शरण ले रहा है, कोई भारतीय योग के प्रति आकर्षित हो रहा है। कितने ही किंकर्तव्यविमूढ होकर केवल नैराश्य भावना को व्यक्त कर रहे हैं। कारण-कार्य की शृंखला और सामाजिक सम्बन्धों की ठीक धारणा न होने के कारण कितने ही कलाकार विज्ञान को ही वर्तमान सांस्कृतिक पतन के लिए उत्तरदायी मान बैठे हैं। जीवन-संघर्ष से भागने वाले कलाकार आकस्मिक कारणों से भले ही प्रगतिशीलों की कोटि में आ जायँ, किन्तु उनकी प्रगतिशीलता क्षणिक ही होगी। जीवन-संघर्ष से पृथक् रहकर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कलाकार के लिए राजनीतिक संघर्ष में लिप्त होना आवश्यक है। संघर्ष के इतने निकट रहना कि वह उसका निरीक्षण कर सके, उसके लिए आवश्यक है। किन्तु संघर्ष के सम्बन्ध में निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्य सृजन के लिए अवकाश प्राप्त करने के लिए संघर्ष में सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पड़ता है। स्वास्थ्यप्रद साहित्य-सृजन ही जनान्दोलन में कलाकार का योग है। नवीन समाज के निर्माण के लिए संघर्ष सभी क्षेत्रों में हो रहा है। साहित्यिक क्षेत्रों में कलाकारों को उस साहित्य का विरोध करना है जिसकी दृष्टि केवल अतीत की ओर है, जो प्राचीनता और परम्परा का अन्ध पुजारी है, जिसकी आस्था विश्व के प्रति नहीं, वर्तमान भारत के प्रति नहीं, बल्कि प्राचीन भारत के किसी कल्पित विकृत रूप के प्रति है, जो संकुचित आकर्षणशील राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहा है। इस प्रसंग में प्रगतिशील कलाकारों को यह नहीं भूलना है कि उनकी रचनाएँ भोंड़ा प्रचार न होकर मर्मस्पर्शी, प्रभावोत्पादक उच्च कलाकृतियाँ हों। कला सोद्देश्य होती है। प्रायः प्रत्येक रचना के पीछे एक सन्देश होता है। इस व्यापक अर्थ में तो सभी कलाकृतियाँ प्रचार का साधन कही

जा सकती है। किन्तु कलाकृति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रत्यक्ष प्रचार का साधन न बनाया जाय। दूसरी बात जिसे प्रगतिशील साहित्यिकों को ध्यान में रखनी है, वह है कि जहाँ कथावस्तु और विवेचना उनकी अपनी वस्तु होगी और नवीन शैलियों को भी वे अपनायेंगे, वहाँ दीर्घकाल से आचार्यों द्वारा पुष्ट की जाने वाली शैली, टेकनीक, छन्द एवं शब्द-विन्यास आदि की भी वे सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते। प्राचीन साहित्य की टेकनीक सम्बन्धी विशेषताओं को उन्हें अपनाना होगा।

जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, सारा संसार आज शोषण की चक्की में पिसकर समान यातना भोग रहा है और उसकी मुक्ति की स्थापना में सहायता देना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। मानव-मात्र की एकता और उसकी सिद्धि के लिए शोषणमुक्त सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता इन आदर्शों की भित्ति पर हमें एक नवीन संस्कृति का निर्माण करना है। नवीन संस्कृति के निर्माण में हमें प्राचीन संस्कृति के साथ उसकी परम्परा को भी दिखलाना है। हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति नवीन व्यवस्था की स्थापना में सर्वथा बाधक न होकर अनेक अंशों में साधक है। मानव-मात्र की एकता, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श इस देश में बहुत पुराना है। वस्तुतः जो कार्य श्रमण-धर्म ने आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव की एकता को स्वीकार करते हुए किया था, वही कार्य भौतिक क्षेत्र में समाजवाद को स्वीकार करके हमें सम्पन्न करना है।

खण्ड तीन

शिक्षा

विद्यार्थियों में स्वावलम्बन का आन्दोलन
जन-शिक्षा
हमारी शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ
स्वतन्त्र भारत में विश्वविद्यालयीय शिक्षा

विद्यार्थियों में स्वावलम्बन का आन्दोलन*

इस बात को प्राय: लोग जानते हैं कि अमरीका में बहुत-से विद्यार्थी शिक्षा-काल में मेहनत-मजदूरी करके अपनी पढ़ाई का खर्च बहुत कुछ निकाल लेते है। पर अपने देश मे इस बात को बहुत कम लोग जानते होंगे कि योरोप के विद्यार्थी-समुदाय में भी स्वावलम्बन का आन्दोलन इस समय जोरों से चल रहा है। योरोपीय युद्ध के पश्चात् योरोप के सभी देशों में, विशेषकर रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया और पोलैण्ड मे, लोगों की आर्थिक अवस्था बहुत बिगड़ गयी थी। सिक्के का भाव रोज-बरोज गिरता जाता था जिससे आर्थिक कष्ट और भी बढ़ गया था। ऐसी अवस्था मे बहुत-से माता-पिता अपने बालकों की शिक्षा का खर्च देने में असमर्थ हो गये थे। कहीं-कही तो ऐसा मालूम पड़ने लगा था कि उच्च शिक्षा के व्यय को प्राय विद्यार्थी नहीं उठा सकेंगे। अत: विवश होकर कुछ ऐसे उपाय निकालने पड़े जिससे विद्यार्थी अपनी शिक्षा का खर्च परिश्रम करके निकाल सकें। अमरीका का उदाहरण उनके सामने था। उन्होंने उनके तरीको को अपनाया। जर्मनी में गवर्नमेण्ट की पूरी सहानुभूति थी; इसलिए उनकी सहायता से कारखानों में विद्यार्थियो को काम दिलाया गया। योरोप मे अमरीका की तरह विद्यार्थियों के लिए रुपया कमाने के पर्याप्त साधन नही हैं। योरोप में मजदूरी की दर भी बहुत कम है। अमरीका के विद्यार्थी छुट्टियों में खेतों में काम करते है, बागीचों में फल तोड़ने का काम करते हैं और पढ़ाई के दिनों में होटलों में 'वेटरों' का काम करते हैं और इस तरह उनको काफी आमदनी हो जाती है। योरोप में इस प्रकार के सुभीते विद्यमान नही थे। पर वहाँ के लोगों ने अपनी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। वहाँ विद्यार्थी मिलकर होटल, रेस्टोरॉ, जिल्दसाजी की दूकान, हज्जाम की दूकान, जूते की मरम्मत की दूकान दर्जी की दूकान और कपड़ा धोने की दूकान खोलते हैं और इस प्रकार बहुत-से विद्यार्थियो की जीविका का निर्वाह हो जाता है जर्मनी

विद्यार्थियों को आवश्यकता के समय कर्ज दिया जाता है। इस समय हजारो विद्यार्थी तरह-तरह का काम करके कुछ आमदनी कर लेते है। पर योरोपीय युद्ध के पहले योरोप में बहुत कम ऐसे विद्यार्थी थे जो स्वावलम्बी हो। इसमें सन्देह नही कि आर्थिक कष्ट के कारण ही इस आन्दोलन का योरोप मे जन्म हुआ। पर धीरे-धीरे साथ-साथ स्वावलम्बन के भाव का महत्त्व बढ़ता गया और मेहनत-मजदूरी करनेवाले विद्यार्थी की कद्र बढ़ गयी। अब वहाँ हाथ से काम करना बुरा नही समझा जाता। ज्यादातर यह समझा जाता है कि विद्यार्थियों को छुट्टियो मे ही काम करना चाहिए और बाकी समय अध्ययन में बिताना चाहिए। बहुत-सी ऐसी संस्थाएँ खुल गयी हैं जो विद्यार्थियों के लिए काम तलाश करती हैं। योरोपीय युद्ध के बाद जो नये राष्ट्र बने हैं उनके पास इतना धन नही था कि वे अपने देश की सभ्यता और शिक्षा की वृद्धि के लिए बड़े-बड़े विश्वविद्यालय खोलें। जो विश्वविद्यालय उन्होंने स्थापित किये उनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी और जो विद्यार्थी वहाँ पढ़ने जाते थे वे भी प्रायः गरीब ही थे। स्वावलम्बन ही उनकी समस्या को हल कर सकता था। यह भी देखा गया कि इस प्रकार विद्यार्थियो मे उत्तरदायित्व की भावना जग जाती है और उनको अपने विद्यार्थी जीवन मे ही जीवन का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो जाता है। मजदूरो की वास्तविक अवस्था जानने में भी उनको सहायता मिलती है। उनमें आत्म-सम्मान का भाव बढ़ जाता है और वे ऐसे व्यवहार-कुशल हो जाते हैं कि कैसी ही विकट परिस्थिति मे क्यो न पड़ जाएँ वे अपने को सँभाल सकते हैं। युवक-आन्दोलन ने हाथ के काम के महत्त्व को बतला दिया था और स्काउट-आन्दोलन ने उनमे सेवा का भाव भर दिया था। यह भी लोगों का खयाल हो चला था कि केवल बौद्धिक शिक्षा अधूरी है। आदर्श पुरुष वह है जिसका मानसिक विकास भी हुआ हो और जो संसार का व्यावहारिक ज्ञान भी रखता हो। शिक्षा के जिन नये प्रकारो का आविष्कार हुआ था उनमें भी हाथ के काम को शिक्षा के क्रम में उचित स्थान दिया गया था।

अब धीरे-धीरे वहाँ के विश्वविद्यालयों के अधिकारी और राष्ट्र के नेता इस आन्दोलन के महत्त्व को समझने लगे हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में कुछ ऐसे भी कालेज हैं जहाँ इसी आदर्श के आधार पर पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है। वहाँ आधे समय बौद्धिक शिक्षा और आधे समय हाथ के काम की शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विद्यार्थियों को सहायता देने के लिए 'इण्टरनेशनल स्टूडेण्ट सर्विस'[१] कई वर्षो से स्थापित है और इसकी ओर से ससार के विद्यार्थियों की एक कान्फरेन्स सन् १९२७ ई० (वि० सं० १९८४) मे प्रथम बार ड्रेस्डन (जर्मनी) में बुलायी गयी थी, जिसमे बाईस देशों के तिहत्तर प्रतिनिधि

---

१. International Student Service.

सम्मिलित हुए थे। इस कान्फरेन्स में जो विचार हुआ उससे यह स्पष्ट हो गया कि स्वावलम्बन का आन्दोलन सफल हो रहा है और उसका आदर्श बहुत ऊँचा है। प्रत्येक देश के प्रतिनिधि ने अपने-अपने देश की अवस्था बतलायी और आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले विविध प्रश्नों पर विचार हुआ। प्रतिनिधियो ने यह अनुभव किया कि इन विविध प्रश्नों की विवेचना का कार्य इतने महत्त्व का और इतना कठिन है कि कान्फरेन्स उनका अनुसन्धान ठीक तौर से नहीं कर सकती; अतः कान्फरेन्स ने इस कार्य के लिए एक विशेष संस्था स्थापित की जिसका नाम 'इण्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट फार स्टूडेण्ट सेल्फहेल्प एण्ड कोआपरेटिव आर्गनाइजेशन्स'[१] है। इसका कार्यालय ड्रेस्डन में है। यह संस्था विद्यार्थियो को सलाह देती है और जहाँ तक सम्भव होता है, उनकी सहायता करती हैं।

भारतवर्ष एक गरीब देश है और अपने देश की शिक्षा आज इतनी महँगी हो गयी है कि मध्यम श्रेणी के लोग भी इस बोझ को बर्दाश्त नही कर सकते। हमारे यहाँ ऊँची जाति के कहलाने वाले लोग हाथ से काम करना बुरा समझते हैं। हमारी शिक्षा इतनी अधूरी और एकाङ्गी है कि नौकरी को छोड़कर हमारे युवक कोई दूसरा कार्य स्वतन्त्र रूप से नही कर सकते। यदि उनका बँधा हुआ रोजगार छूट जाय तो वे कोई नया काम अपने लिए नही उठा सकते। अपना देश जब स्वतन्त्र होगा तब हमारा काम केवल यूनिवर्सिटी की परीक्षा पास किए हुए नवयुवकों से नही चल सकेगा। हमको राष्ट्र-निर्माण के लिए ऐसे अनेक नवयुवको की आवश्यकता होगी जो लोक-नेतृत्व कर सकें। हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति इतनी निकम्मी है कि हमारे विद्यार्थी पढ़ने-लिखने के काम को छोड़कर और किसी मसरफ के नही रह जाते। यदि हमारे यहाँ के विद्यार्थी स्वावलम्बन के आन्दोलन को अपनावें तो हमारे गरीब से गरीब विद्यार्थी भी स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें और साथ ही साथ वे अपने मे उन गुणों का भी पोषण कर सकें जो एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। हमको इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे देश के सरकारी और गैरसरकारी विश्वविद्यालय दोनों अपने विद्यार्थियों को इस कार्य के लिए प्रोत्साहित करें और विद्यार्थियों को काम दिलाने मे सहायक हों। पूरा लाभ तो तभी होगा, जब इन विश्वविद्यालयों के सञ्चालक स्वावलम्बन को आदर्श रूप में अपनावें। कम-से-कम राष्ट्रीय विद्यालयों को तो, जहाँ प्रायः गरीब विद्यार्थी ही पढ़ने आते हैं, अवश्य इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके विद्यार्थी स्वावलम्बी बनें। युवक-सङ्घों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। विद्यालयों की ओर से कुछ ऐसा काम होना चाहिए जिससे विद्यार्थी कुछ न कुछ कमा सकें। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी

---

१ International Institute for Student Self-help and Co-operative Organisations

स्वयं आपस में मिलकर कोआपरेटिव स्टोर, भोजनालय, कागज-पेन्सिल वगैरह की दूकान खोल सकते हैं। समाचार-पत्रों के सम्पादक, प्रेसों के मालिक और प्रकाशक भी हमारे विद्यार्थियों को सहायता दे सकते हैं। विद्यालयों के सञ्चालक पूँजी से विद्यार्थियों की मदद कर सकते हैं।

पाठ्यक्रम में भी हाथ के काम को स्थान देना आवश्यक है जिसमें हमारे यहाँ के विद्यार्थियों को हाथ से काम करने की आदत पड़ जाय और उनके हृदय से यह भाव निकल जाय कि हाथ से काम करना बुरा है। एक और दृष्टि से भी यदि विचार करें तो हमको मालूम होगा कि पाठ्यक्रम में इस प्रकार के हेरफेर करने की बड़ी आवश्यकता है। यदि हम चाहते हैं कि शिक्षा का सर्वसाधारण में प्रचार हो और हमारे यहाँ के मजदूरपेशा लोग भी शिक्षित और सभ्य बनें तो यह आवश्यक मालूम होता है कि ऊँची श्रेणी के लोग भी, जो केवल बुद्धिजीवी हैं, हाथ से काम करना सीखें। यदि हम आज ही से इस बात का प्रयत्न नहीं करेंगे तो जब मजदूर शिक्षित बन जायेंगे तब वे भी ऊँची श्रेणी के लोगों का अनुकरण कर हाथ के कामों से भागेंगे और उस समय लोकयात्रा बड़ी कठिन हो जायगी। यदि हम चाहते है कि हमारे श्रमजीवी समुदाय को शिक्षा और मनोविनोद के लिए अवकाश मिले तो हमको भी मजदूर का काम थोड़ा-बहुत अवश्य करना होगा। जब शिक्षा और सभ्यता को सर्वसाधारण के लिए सुलभ करना हमारा ध्येय है, तो हाथ के काम को भी सबके लिए अनिवार्य करना आवश्यक है।

जन-शिक्षा*

लोकतन्त्र केवल एक शासन-पद्धति ही नहीं है बल्कि वह एक जीवन-प्रणाली है। अतएव लोकतान्त्रिक आदर्शों को केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता, मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। अगर कोई नवजात राष्ट्र दूसरे देशों की लोकतान्त्रिक शासन-पद्धति का ही अनुकरण करता है और केवल उसी को प्रगति का सूचक मान लेता है, तो वह कदापि सच्चा लोकतान्त्रिक शासन स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता। इसके लिए देश में लोकतान्त्रिक भावना का होना आवश्यक है। लोकतन्त्र मनुष्य के अभ्यास और परम्परा का विषय है जो काफी लम्बे और कठिन प्रयास के फलस्वरूप प्राप्त होती है। लोकतान्त्रिक परम्परा का निर्माण किया जाता है और जनता में तदनुकूल भावनाएँ विकसित की जाती हैं। जो समाज विविध धर्म और जातिगत भेदभावों से जर्जर हो गया है और जिसमें कुल, सम्पत्ति, जाति और धर्म पर आधारित विशेष स्वार्थों की सृष्टि हो गयी है, उसके अन्दर लोकतान्त्रिक जीवन-चर्या का निर्माण करने के लिए और भी सजग प्रयास की आवश्यकता होनी है। जनता में लोकतान्त्रिक आदर्शों के प्रति सुदृढ़ आस्था होनी चाहिए और उनसे ही उसका सारा जीवन-क्रम और व्यवहार अनुप्राणित होना चाहिए।

यह सत्य है कि जब तक जनता मे सामाजिक और राजनैतिक चेतना उत्पन्न नहीं हो जाती तब तक लोकतान्त्रिक पद्धति की सफलता सम्भव नहीं है। इसका तो उद्देश्य ही यही है कि राष्ट्र के राजनैतिक जीवन में सब लोग विवेकपूर्वक और सक्रिय रूप से भाग लें। राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति जनता की उदासीनता को दूर करना होगा और सार्वजनिक कार्यों में उसकी दिलचस्पी पैदा करनी होगी। इसलिए लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था की स्थापना के लिए व्यापक शिक्षा सबसे आवश्यक है। जनता की सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी कमियों को सर्वप्रथम दूर करना पड़ेगा और सभी श्रेणियों में साक्षरता का व्यापक प्रसार

---

* जनवाणी दिसम्बर १९४८

करना होगा। सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी श्रेणियों और क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना होगा और उनको शीघ्रातिशीघ्र सुसंस्कृत समाज के समकक्ष लाने के लिए कोई भी कसर उठा नहीं रखनी चाहिए। जब तक जन-संस्कृति का निर्माण नहीं हो जाता तब तक ऐसे स्वतन्त्र समाज की स्थापना भी नहीं हो सकती है जिसमें प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक कल्याण के लिए परस्पर सहयोग कर सके।

किन्तु साक्षरता इस दिशा में पहला कदम है। इससे केवल बुद्धि का कपाट खुल जाता है। साक्षर हो जाने पर कोई व्यक्ति केवल साधारण किस्से-कहानियाँ पढ़ सकता है, किन्तु वह शिक्षित नहीं हो सकता और न अपने व्यवहारों को सामाजिक और विवेकयुक्त ही कर सकता है। वह राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का भी अध्ययन नहीं कर सकता जिनसे आज चारों ओर उथल-पुथल मची हुई है। ऐसी साक्षरता से व्यावसायिक वर्ग अनुचित लाभ उठाते हैं और केवल मुनाफा कमाने के लिए ढेर के ढेर ऐसे सस्ते और भद्दे साहित्य को प्रकाशित करते है जिनसे केवल मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार के पुस्तक-व्यवसाय मे, जिसकी आजकल काफी धूम है, जनता शिक्षित नहीं होती, बल्कि पथभ्रष्ट होती है। केवल साक्षर समाज से भी काफी खतरा है और आसानी से वह अधिनायकों और अधिकाराकांक्षियो के जाल मे फँस सकता है। श्रीवालास ने ठीक कहा है कि "राजनीति उपचेतन समाज का दुरुपयोग है।" समाज के ये प्रवंचक अपने संकुचित राजनैतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए प्रचार के ऐसे हथकण्डों का उपयोग करते हैं जिससे विभिन्न राष्ट्रों के बीच घृणा और द्वेष उत्पन्न हो। किसी भी राष्ट्र की जन-शिक्षा में पत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पत्रों के द्वारा ही साधारण जनता को सार्वजनिक घटनाओं की जानकारी प्राप्त होती है और जनमत तैयार होता है। स्वतन्त्र राष्ट्रों में विभिन्न राजनैतिक पार्टियाँ अपने सिद्धान्तों और कार्यक्रम का प्रचार करने के लिए अपना पत्र प्रकाशित करती हैं। इनका उद्देश्य मतदाताओं को शिक्षित करना होता है, न कि मुनाफा कमाना। अक्सर उनसे काफी घाटा होता है, जिसे चन्दा या पार्टी के कोष से पूरा किया जाता है। किन्तु जब जनता साक्षर हो जाती है तो समाज मे कुछ ऐसे समाचार-पत्रों का भी आविर्भाव होता है जिनका उद्देश्य जनता को शिक्षित करना नहीं, बल्कि अपनी अर्थ-सिद्धि होता है। वे प्रेम, हत्या तथा अन्य अपराधों के उत्तेजना-पूर्ण और सनसनीदार समाचार प्रकाशित करते हैं और इस प्रकार मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को जगाकर अपना घृणित स्वार्थ-साधन करते हैं। ऐसे पत्रों से भयंकर प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है। इससे मानव-प्रकृति का पतन होता है, न कि उत्थान और उदात्तीकरण। जन-शिक्षा मे उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं होती है और न उनका यह उद्देश्य ही होता है। ये मानव-प्रकृति की कमजोरियों से अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहते हैं। यद्यपि अभी तक हमारे देश में ऐसे पत्रों का

उदय नहीं हुआ है, किन्तु इसमें अधिक समय नहीं लगेगा। एक दूसरे प्रकार के पत्रों का भी हमारे देश में आविर्भाव हो रहा है जो औद्योगिक वर्ग के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे राष्ट्र के उद्योगपति अपना कोई राजनैतिक संगठन नहीं बनाते हैं। समाचार-पत्रों को अपने हाथ में रखना ही उनके लिए अधिक लाभदायक होता है और इस प्रकार वे प्रत्यक्ष या परोक्ष, अनेक रूपों में सरकार और जनता को प्रभावित करते हैं। यहाँ के उद्योगपतियों की ओर से इधर बहुत-से समाचार-पत्र प्रकाशित हुए हैं और राजनैतिक पार्टियों के लिए अब अपने पत्रों का संचालन दिन-प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। विज्ञापनदाताओं में भी वर्ग-चेतना बढ़ती जा रही है और अब वे वामपक्षी पत्रों को विज्ञापन देना पसन्द नहीं करते।

जनता को राजनैतिक विषयों की शिक्षा तभी समुचित रूप से प्राप्त हो सकती है, जबकि उसे विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं को भलीभाँति समझने और उनमें निर्णय करने का अवसर मिले। राज्य का कर्तव्य है कि वह जनता को ऐसी मौलिक शिक्षा प्रदान करे जिससे उसके अन्दर विवेचनात्मक शक्ति का विकास हो और उसमें आत्मनिर्णय की क्षमता आ सके। इसमें नागरिक शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसमें न केवल राष्ट्रीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का पालन करने की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। स्मरण रहे कि हम लोग अब विश्व-संघ की ओर अग्रसर हो रहे हैं और हमारी सभी शिक्षा-योजना में वह दृष्टिकोण निहित रहना चाहिए। हम लोग विश्व के अन्य भागों में होने वाली घटनाओं के प्रति आँखें मूँदकर अकेले नहीं रह सकते। हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि हम आज के विश्व में सुरक्षा और सुख के साथ जीवन व्यतीत कर सकें। हमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सद्भाव और भ्रातृत्व की स्थापना करने तथा अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि यह कार्य महान है, किन्तु पूर्ण और सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के लिए इसकी पूर्ति आवश्यक है। अगर हम साहस के साथ और सचेत होकर अपने कर्तव्य का पालन करेंगे तो निस्सन्देह हमारा भविष्य उज्ज्वल है।

इस दृष्टि से हमारी शिक्षा-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन होना चाहिए। मानव-कल्याण के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग प्राप्त करने के लिए एक नये जीवन-दर्शन और नये प्रयास की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि हमारी जन-शिक्षा-योजना इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे जीवन के प्रति स्वस्थ और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण बन सके, उसमें लोकतान्त्रिक और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो और सामाजिक व्यवहार के नवीन संस्थानों का निर्माण हो। साथ ही शिक्षा में जीवनपर्यन्त प्रगति होनी चाहिए। हम लोग एक परिवर्तनशील जगत् में रहते हैं इसलिए समय-समय पर हमारे मनोभावों और विचारों की

पुनर्व्यवस्था आवश्यक है। साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त राज्य का यह कर्तव्य है कि वह समय-समय पर जनता को महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक समस्याओं की भी शिक्षा दे। उदाहरणस्वरूप सरकार को चाहिए था कि वह विधान-परिषद् द्वारा प्रस्तुत संविधान पर प्रत्येक नगर और गाँव मे सार्वजनिक रूप से विचार-विमर्श करने की व्यवस्था करती। वास्तव में यह जनता के लिए काफी उपयोगी शिक्षा होती। यद्यपि विधान-परिषद् का संगठन बालिग मताधिकार पर नहीं हुआ है और जनता से उसे सत्ता प्राप्त नहीं हुई है, किन्तु अगर सरकार देश-भर में विधान पर सार्वजनिक रूप से विचार-विमर्श का अवसर और सुविधा प्रदान करती, तथा जनता मे इसकी ओर दिलचस्पी उत्पन्न करती तो उससे विधान की कुछ आधारभूत त्रुटियो का अवश्य परिमार्जन हो जाता। १९३६ के सोवियत विधान पर इसी प्रकार पहले ग्राम-पंचायतों और मजदूर-पंचायतों द्वारा विचार-विमर्श हुआ था। इससे उनके अन्दर काफी चेतना आ गयी थी। इस प्रकार वहाँ राज्य की ओर से जनता को सचमुच एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनैतिक शिक्षा दी गयी थी। इसके विपरीत हमारे देश में नया विधान चन्द दिनों मे तैयार हो जायगा, किन्तु उसमे जनता को जरा भी दिलचस्पी नही है। इसके लिए राजनैतिक प्रश्नों पर जनता की उदासीनता का बहाना बिल्कुल व्यर्थ है। जनता बिल्कुल अनभिज्ञ है और विधान-निर्माण मे दिलचस्पी न लेने का उस पर आरोप नही लगाया जा सकता। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जिज्ञासा उत्पन्न करना सरकार का प्रमुख कर्तव्य है। डिसरैली के शब्दो मे जनता-जनार्दन की शिक्षा हमारा प्रधान कर्तव्य है, और उनके प्रति अपने इस कर्तव्य को पूरा करने मे हम अभी तक असफल रहे हैं। हमे जनता को यह बताना है कि किस प्रकार आज उसका भाग्य-निर्माण हो रहा है, उसके अधिकारों और कर्तव्यों का घोषणा-पत्र तैयार हो रहा है। इसी तरह से हम उनके अन्दर उन नवीन अधिकारों और उद्देश्यों के प्रति चेतना उत्पन्न कर सकेंगे जो भविष्य में स्वतन्त्र हिन्दुस्तान की आधारशिला होगी।

कहने का तात्पर्य यह कि राज्य को ऐसे सभी अवसरो का जबकि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता को शिक्षित किया जा सकता है, उपयोग करना चाहिए। साक्षरता-आन्दोलन की अपेक्षा यह जन-शिक्षा का अधिक प्रभावशाली तरीका होगा। साथ ही इस कार्य में राज्य को शिक्षा के सभी साधनों का उपयोग करना चाहिए। हिन्दुस्तान में जन-शिक्षा की केवल योजना तैयार करने के अतिरिक्त और बहुत-से कार्य करने हैं। लोकतान्त्रिक विचारधारा में समानता का भाव सन्निहित है। यह केवल राजनैतिक विषयों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसकी परिणति जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर भी है। इसके लिए शिक्षा और जीवन-निर्वाह का समान अवसर होना चाहिए और कुल, सम्पत्ति तथा अर्थनीति पर आधारित भेदभावो का उन्मूलन और सामाजिक न्याय का होना भी आवश्यक है। लोकतन्त्र का क्षेत्र

तब तक विस्तृत होता रहेगा जब तक कि सम्पूर्ण मानव-जीवन में यह व्याप्त न हो जाय।

हमारे देश में अभी लोकतान्त्रिक प्रगति का केवल श्रीगणेश हुआ है। यहाँ तो सामाजिक असमानता और वर्णभेद ही हिन्दू-समाज का आधार रहा है। इसके बहुसंख्यक समुदाय को अभी तक सभ्यता के सूर्योदय का दर्शन भी नहीं हुआ है और हम लोग उनके साथ अब भी मानवेतर प्राणियों के समान बर्ताव करते हैं। आदिवासियों की, जो सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए है, नैतिक और भौतिक अवस्था सुधारने के लिए, अभी तक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया है। ये सामाजिक और सांस्कृतिक असमानताएं जन-जीवन में लोकतान्त्रिक भावनाओं के विकास मे बहुत बड़ी बाधा हैं। और जब तक इन संस्थाओं और परम्पराओं के, जिन पर यह भेदभाव और अमानुषिक व्यवहार कायम है, विरुद्ध पूरी शक्ति से अनवरत संघर्ष नहीं किया जायगा, तब तक नये लक्ष्य की प्राप्ति की ओर प्रगति असम्भव है।

जन-शिक्षा के प्रसार और ऐसे कानूनों के निर्माण के साथ ही, जिससे तमाम सामाजिक असमानताओं का उन्मूलन हो जाता है, हमें ग्रामीण जनता में लोकतान्त्रिक विचारों और व्यवहारों को विकसित करने के लिए देहातों में जोरदार सहकारी आन्दोलन चलाने की आवश्यकता पड़ेगी। सहकारिता से केवल यह आर्थिक लाभ ही नहीं है कि वह मध्यम श्रेणी के मुनाफे का अन्त कर कृषि को अधिक लाभदायक बना देती है, बल्कि इसके द्वारा नवीन सामाजिक सम्बन्धों का एक संस्थान भी तैयार होता है जो प्रतिस्पर्द्धा के बजाय सहयोग पर आश्रित है और जनता में भ्रातृभाव उत्पन्न करता है।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गैरसरकारी संस्थाएँ जो भी काम कर रही हैं, करें, किन्तु राज्य का प्रधान कर्तव्य है कि वह अपनी राजनैतिक विचारधारा के मौलिक सिद्धान्तों और तदनुकूल आचारशास्त्र की जनता को व्यापक शिक्षा दे। इस तरीके से ही जनता के सामाजिक कार्य विवेकपूर्वक होंगे और इस प्रकार की शिक्षा उन प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा उत्पन्न संकट से भी राज्य की रक्षा कर सकेगी जो समय-समय पर अपना सिर उठाकर उन मानवीय मूल्यों को ही विनष्ट कर देना चाहती हैं जिनकी सुरक्षा तथा विकास का दायित्व राज्य पर है।

आल इण्डिया रेडियो लखनऊ के सौजन्य से

हमारी शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ*

खेद है कि हमारी नव अर्जित स्वतन्त्रता जनता को अनुप्राणित न कर सकी और उससे राष्ट्र की सर्जनात्मक शक्ति निःसृत नहीं हुई। परिस्थितियों के संयोग से तथा उन विश्व-शक्तियों की सहायता से, जो हमारा भाग्य-निर्माण कर रही है, हम लोगों को एक नयी हैसियत मिली। किन्तु हमारे अन्दर सामाजिक कर्तव्य और नये दायित्व के प्रति चेतना उत्पन्न नहीं हुई जो इस स्वतन्त्रता से सम्बन्धित है। हैसियत में परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे अन्दर कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारे ध्येय में गम्भीरता नहीं है और हमारे प्रयास की कोई दिशा नहीं है। देश की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए एक महान राष्ट्रीय प्रयास होने के बजाय जिसमें लाखों व्यक्ति भाग लें, हम चारों ओर सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों के प्रति घोर निराशा, निवृत्ति और उदासीनता देखते हैं, और सबसे बुरी बात तो यह है कि राष्ट्र की सम्पदा में कोई अभिवृद्धि होने के बजाय जनता का नैतिक स्तर निरन्तर गिरता गया है। जो देश सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के मानवोपरि प्रयास द्वारा ही दलदल से बाहर निकल सकता है। हम लोग दासों की भाँति हमेशा परित्राणकर्त्ता की ओर दृष्टि लगाये रहते हैं और युगों से अमूल्य निधियों को उपलब्ध करने के लिए सुगम और सुलभ उपाय ढूंढ़ने के अभ्यस्त हो गये हैं। जब पुराना प्रकाश धुँधला हो जाता था अथवा बुझ जाता था और देश में चारों ओर अन्धकार छा जाता था तब हम लोग ऐसा मार्ग ढूंढ़ने की कोशिश करते थे जिससे करोड़ों व्यक्तियों को बिना अधिक प्रयास के ही मोक्ष और स्वर्गीय आनन्द का लाभ हो सके। सामान्यजन को ऊपर उठाने के बजाय हम लोगों ने क्रम से ऐसे महात्माओं की सृष्टि की जिनका एकमात्र कार्य समाज में जनता के मोक्ष का मार्ग ढूंढ़ना था। ज्ञान और क्रिया के दर्शनों को पीछे ढकेल दिया गया। जीवन की सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिए केवल भक्ति और पूर्ण आत्मसमर्पण ही पर्याप्त था। हम लोग सस्ती औषधि

---

* जनवाणी, अक्टूबर, १९५१

के फेर में ही पड़े रहे और सम्पूर्ण राष्ट्र पंगु और कम्पवायु से ग्रसित हो गया। ऐसे वातावरण में कोई महान बौद्धिक प्रयास सम्भव नहीं था और सांसारिक वस्तुओं में ही अधिकाधिक दिलचस्पी होती गयी। सारे देश में जड़ता आ गयी, जीवन मृतप्राय हो गया और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पतन के गर्त मे पहुँच गया। अतएव इसमे विशेष आश्चर्य नहीं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति से हमारे अन्दर नयी शक्ति निःसृत न हो सकी। यहाँ तक कि गांधीजी का सर्वोत्कृष्ट आत्मोत्सर्ग भी उस जड़ता को दूर न कर सका। ऐसे महात्मा का नेतृत्व दुर्लभ होता है, किन्तु जैसी हमारी परम्परा रही है, हम लोगों ने उनके देहावसान के उपरान्त उन्हें सन्तों की कोटि में बैठा दिया और अपने महापुरुषों में सम्मानित स्थान देकर सन्तुष्ट हो गये। किन्तु यह हमारे लिए अत्यन्त लज्जा का विषय है कि हम लोग उनके उत्तम उपदेशों को भूल गये और यहाँ तक कि उनका अपरिमित आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति-भण्डार भी हमारे नैतिक अधःपतन को रोक न सका। इस समय सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा अनुशासनहीनता से रँग गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार-लिप्सा छा गयी है। यहाँ तक कि विद्या-केन्द्र भी इस भ्रष्टाचार से बच नही सके है। हम लोगो में संकीर्णता, तुच्छता और स्वार्थपरता आ गयी है, समुदाय की अपेक्षा स्वार्थचिन्तन ही अधिक होता है। हमारी उत्तम भावनाएँ विलुप्त हो गयी हैं, सामाजिक विवेक नष्ट हो गया है और सेवा तथा त्याग की भावना का हमारे अन्दर लोप हो गया है। हमारी स्थिति सचमुच निराशाजनक हो गयी है। अब और आत्म-सन्तोष घातक सिद्ध होगा। सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने चारों ओर के खतरों के प्रति जागरूक होना पड़ेगा। इस समय सर्वोत्कृष्ट बुद्धिमत्ता और साहस की आवश्यकता है। भारतीय जनता की वर्तमान आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की तृप्ति करने के लिए आधारभूत जीवन-दर्शन में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। राष्ट्रीय जीवन को नवीन ढाँचे में पुन शिक्षित करना तथा ढालना पड़ेगा। भारत की वर्तमान दशा का सारांश यह है कि हम लोग जीवन का ध्येय ही खो बैठे हैं। फलतः हम अन्धकार मे टटोल रहे है और हमारा प्रयास असम्बद्ध और निरुद्देश्य हो रहा है। अगर हम दृढतापूर्वक अपने समक्ष ऐसे स्पष्ट और सुनिश्चित ध्येय को, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, रखे तो हमारी वर्तमान अव्यवस्था दूर हो सकती है। इसी प्रसग में हमे शिक्षा के महत्त्व को समझना चाहिए। विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में नया नेतृत्व शिक्षण-सस्थाएँ ही प्रदान कर सकती है। विश्वविद्यालय विचार-केन्द्र बन सकते हैं और इस प्रकार राष्ट्र की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। अन्यत्र सभी देशो में राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा के महत्त्व का अनुभव किया जा रहा है और यह समझा जाता है कि शिक्षा को किसी भाँति मरने या अशक्त होने नही दिया जा सकता यहाँ तक कि जब ब्रिटेन युद्धलिप्त था तब भी वहाँ शिक्षा-प्रसार के लिए

राजकोष द्वारा उदार अनुदान दिया गया था। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश मे जनता और राज्य को राष्ट्रीय जीवन में उच्च शिक्षा के महत्त्व का कुछ भी ज्ञान नही है। यहाँ तक कि हमारे विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत भी स्वतन्त्रता की अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकी है और वे अब भी पुरानी लकीर को इस भाँति पीटे जा रहे हैं मानो राष्ट्र में कोई नवीन घटना ही नही घटी है। जब कभी देश मे आर्थिक संकट खड़ा होता है तो शिक्षा उसका पहला शिकार होती है। भारत सरकार मुश्किल से अपनी आय का आधा प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करती है। यह केवल तीन विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए उत्तरदायी है और सभी स्तरों की शिक्षा का शेष सारा भार इसने राज्य सरकारों पर डाल दिया है। राज्य सरकारों के प्रति न्यायसंगत बात तो यह होगी कि भारत सरकार स्वयं कम-से-कम पोस्ट ग्रेजुयेट शिक्षा और अनुसन्धान का भार अपने ऊपर ले ले और अपनी आय का पर्याप्त भाग शिक्षा पर व्यय करे।

अगर हम विशुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से भी शिक्षा पर विचार करें और सामाजिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप में इसकी महत्ता को अलग कर दें तो भी हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षा, विशेषकर विश्वविद्यालयों की शिक्षा की इतनी उपेक्षा नही होनी चाहिए। सरकार कल्याण-राज्य स्थापित करने का दावा करती है, किन्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए देश की सामाजिक सेवाओं का निरन्तर विस्तार आवश्यक है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सरकार को काफी संख्या में अध्यापकों, डॉक्टरों, इंजीनियरो, यन्त्रचालको तथा छोटे-बड़े कार्यों के लिए अन्य सुशिक्षित व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ेगी। इसका यह अर्थ होता है कि विश्वविद्यालयो की शिक्षा का, वैज्ञानिक और यान्त्रिक शिक्षा की सुविधाओं का निरन्तर प्रसार और वैज्ञानिक अनुसन्धान मे प्रगति होनी चाहिए। जनहित की हमारी सभी योजनाएँ तथा निर्माण-कार्य तब तक सफल नहीं हो सकते हैं जब तक कि राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे सुशिक्षित और कुशल व्यक्तियों का एक बड़ा दल तैयार नही हो जाता है। राष्ट्र की इस आवश्यकता की पूर्ति विश्वविद्यालय तथा टेकनालॉजिकल इंस्टीट्यूट ही कर सकते है।

किन्तु शिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी है जो उतना स्पष्ट तो नही, किन्तु उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक युग मे शिक्षा का सामाजिक प्रयोजन होना चाहिए। शिक्षा के सम्बन्ध में शास्त्रवादी और परम्परावादी विचार के बदले अधिक व्यापक और गत्यात्मक दृष्टिकोण को स्थान मिलना चाहिए। हम लोग एक ऐसे युग मे रहते हैं जब सामाजिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। समाज का मूलाधार ही परिवर्तित हो रहा है और प्राचीन मौलिक धारणाएँ काफी विवादास्पद हो गयी हैं। पर दोनों पक्ष अपनी आस्था पर दृढ़ हैं और विभिन्न दृष्टिकोणों मे

सामंजस्य स्थापित करने की आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार हमारे जीवन और व्यवहार के नियामक प्राचीन मौलिक सिद्धान्तों में कोई ऐकमत्य नहीं है। ज्ञान के क्षितिज का विस्तार हो रहा है, नये-नये विज्ञानों का प्रादुर्भाव हो रहा है, और इस दृष्टि से समय-समय पर हमारे मानस की पुनर्व्यवस्था आवश्यक हो गयी है। शिक्षा का उद्देश्य देश के नवयुवकों को भावी जीवन के लिए तैयार करना है, किन्तु जीवन की परिस्थिति मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतएव नवयुवकों की शिक्षा भी स्थिर जीवन-दर्शन पर आधृत नही हो सकती है। परिवर्तनशील जगत् की आवश्यकता पूरी करने के लिए शिक्षा को गत्यात्मक बनाना पड़ेगा, उसमे आधुनिक समाज की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं पर शेष विश्व की दृष्टि से विचार करना पड़ेगा, विद्यार्थियो में जीवन के उन मूल्यों की प्रतिष्ठा और प्रचार करना पड़ेगा जो आधुनिक विश्व की प्रगति के लिए आवश्यक हैं। वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप को स्वीकार करना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान और यंत्र-कला हमारी अनेक समस्याओ को हल करने मे काफी सहायक सिद्ध होंगे। किन्तु साथ ही हमें यह भी ध्यान मे रखना होगा कि विज्ञान का तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि में दुरुपयोग न किया जाय, बल्कि उसे सामाजिक हित-कार्य मे नियोजित किया जाय। यही विज्ञान का सच्चा धर्म है, किन्तु दुर्भाग्यवश सभी वैज्ञानिकों में सामाजिक दायित्व के प्रति इतनी उच्च भावना नही है और वे इस बात का कुछ भी विचार न करके कि उनके आविष्कारो का किस प्रकार उपयोग किया जायगा, अपनी सेवा अधिकारारूढ़ व्यक्तियो को अर्पित करने के लिए उद्यत रहते है। ज्ञान ही शक्ति है, किन्तु अगर इसका शान्ति और सामाजिक कल्याण के लिए उपयोग न कर युद्ध और विनाश के लिए किया जाता है तो यह खतरनाक हो सकता है। आज विज्ञान का लाभदायक कार्यो के साथ परस्पर विनाश के शस्त्रास्त्र बनाने मे भी उपयोग किया जा रहा है। यहाँ तक कि सामाजिक विज्ञानो का भी, जो अभी हाल में विकसित हुए हैं, जनता के विचारों और व्यवहार का मनोवैज्ञानिक तरीके से दुरुपयोग किया जा रहा है। यह सब इसीलिए हो रहा है क्योंकि जनता की किसी प्रकार के सामाजिक और नैतिक मूल्यो मे आस्था नहीं है और न उसका कोई मूल्यांकन-दण्ड ही रह गया है। अधिकार-लिप्सा ने हमारी विवेक-शक्ति पर पर्दा डाल दिया है, हम साधनों की शुद्धता का विचार नहीं करते और स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी भी तरीके को अपना सकते हैं, चाहे वह कितना भी निम्न और अयोग्य क्यों न हो। सारा जनसमूह ही अनैतिक हो रहा है क्योंकि धर्म का प्रभुत्व तेजी से क्षीण हो रहा है और पुरानी परम्पराएँ और विश्वास किसी नवीन की सुदृढ़ स्थापना से पहले ही धराशायी हो गये हैं। जीवन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से हानिकर है और विश्व को एक भारी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा- अगर समय रहते इसमें संशोधन नही

हुआ और उन सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्रधानता नहीं मिली जिनसे ही विश्व की रक्षा हो सकती है। विज्ञानवेत्ता और राजनीतिज्ञ को समाज के प्रति अपने दायित्व को अवश्य समझना चाहिए और उन नैतिक मूल्यों के प्रकाश मे कार्य करना चाहिए जिनसे ही समाज-व्यवस्था चल सकती है। ऐसे अनेक सामाजिक मूल्य हैं जिनका स्थायी महत्त्व है और मानव-इतिहास में उनकी यथार्थता और उपयोगिता बारम्बार सिद्ध हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी मूल्य होते हैं जो जनता की नयी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं से समय-समय पर उद्भूत होते हैं। वे युग-धर्म होते हैं। राष्ट्रीय प्रगति की दृष्टि से उनका भी समान महत्त्व है। एक परम्परा-पूजक व्यक्ति की इन नवीन मूल्यों में पूर्ण आस्था नहीं हो सकती है क्योंकि उसकी विचार-पद्धति जड़ हो गयी है और वह वर्तमान की अपेक्षा भूत में ही अधिक रहने की कोशिश करता है। परिवर्तित परिस्थितियों के साथ तभी सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है जबकि हमारा दृष्टिकोण गतिशील हो और हमारे अन्तर्गत अपने चारों ओर होने वाले परिवर्तनों की सूक्ष्म अनुभूति और चेतना होनी चाहिए। कोई भी राष्ट्र, विशेषकर हमारा देश जिसकी दीर्घकालिक परम्परा रही है, सर्वथा नये आधार पर आगे नही बढ़ना है। भूत की उपेक्षा नही की जा सकती है, और इसलिए हमारे लिए एकमात्र बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग यही है कि हम भूत की विवेकपूर्वक परीक्षा करें और आधुनिक अनुभवों के प्रकाश मे उसका उचित मूल्यांकन करें। अगर हम ऐसा नहीं करते है तो इसके पतनोन्मुख तत्त्वों का भी हमारे आचरण पर अज्ञात रूप से प्रभाव पड़ेगा और वे हमारे कार्य के प्रेरक बन जायेंगे। हमारे लिए उच्चकोटि की वास्तविकता और युक्तिपूर्ण विचार की आवश्यकता है। भूत के सम्बन्ध में एक सन्तुलित और आवेगरहित दृष्टि होनी चाहिए और इसमें उन सबका योगदान होना चाहिए जो आधुनिक ज्ञान हमें राष्ट्रीय प्रगति के लिए दे सकते है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम अब बिल्कुल पृथक् भी नहीं रह सकते हैं। हमारा जीवन दूसरे राष्ट्रों के जीवन के साथ अनेक प्रकार से बँधा हुआ है और हम पारस्परिक सहयोग से ही अपनी समस्याएँ हल कर सकते है। आधुनिक विज्ञान ने सम्पूर्ण विश्व मे एकता ला दी है, और अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय मानस का विकास नही करते हैं तथा विश्वव्यापी दृष्टि से अपनी समस्याओं को देखने का अभ्यास नही करते है तो अन्य राष्ट्रों के साथ हमारा बार-बार संघर्ष होता रहेगा।

जहाँ तक स्वदेश का सम्बन्ध है, हमारे सामने बहुत बड़ा काम है। देश मे अनेक समस्याएँ है और जो कठिनाइयो से भरी हुई हैं। जनता अज्ञानता और गरीबी के गर्त में पड़ी हुई है। यद्यपि भारत एक कृषिप्रधान देश है, किन्तु बढती हुई जनसंख्या के हिसाब से खाद्य-उत्पादन बहुत कम है। हम जनता की आधारभूत आवश्यकताएँ भी पूरी करने मे असमर्थ है मृत्यु-संख्या बेहिसाब है जनता घोर

गन्दगी में रहती है और जीवन की औसत आयु २६ वर्ष है। जनता या तो उदासीन है अथवा उद्विग्न मुद्रा में। उसमे अनुशासन नही है और वे सहकारिता का महत्त्व नहीं समझते है। हमारा सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा जाति-भेद पर आधृत है और हम जनतान्त्रिक जीवन-विधि के बिल्कुल अभ्यस्त नही है। वर्तमान आर्थिक और सामाजिक भेदभाव से सबको आत्मोन्नति के लिए समान अवसर नही मिलता है। जनतान्त्रिक भावना कमजोर है और जनतान्त्रिक परम्परा का बिल्कुल अभाव रहा है। समाज में ऐसी गतिशीलता बहुत कम है जिससे उन लोगों को जीवन में उत्थान की समुचित आशा हो सके जो पददलित हैं। लोग अपने आपस के मैत्री व्यवहार में जाति, ध्येय और प्रान्त के भेदभाव से ग्रसित हैं। अगर शिक्षा को कुशलतापूर्वक अपना कार्य सम्पन्न करना है तो इसे नये आधार पर एक नये समाज का निर्माण करने में तथा अन्य राष्ट्रों के साथ प्रेम और सद्‌भाव के साथ रहने में सहायक सिद्ध होना चाहिए। केवल कुशल व्यक्ति तैयार करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम भले नागरिक उत्पन्न करें जिनमें सुदृढ़ नागरिक भाव और उच्च सामाजिक आदर्श हों, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और बुद्धि में विश्वास रखते हों और जो जनतान्त्रिक जीवनविधि में दृढ़ आस्था रखते हों। वर्तमान समस्याओं के गम्भीर अध्ययन और समाज की नवीन प्रवृत्तियों को समझने की जागरूकता के बिना कोरा पाण्डित्य-ज्ञान निरर्थक ही नहीं, बदतर भी है।

इसलिए हमारी शिक्षा-पद्धति में पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है और इसका ध्येय पुनर्निर्धारित करना पड़ेगा। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि किसी शिक्षा-पद्धति की सफलता अन्ततोगत्वा अध्यापक पर निर्भर करती है। विदेशी शासन के अन्तर्गत उसे नाममात्र की सैद्धान्तिक (academic) स्वतन्त्रता थी और वह समाज से पृथक् था। विद्यालय और समाज के बीच इस पृथक्करण के कारण ही शिक्षा में लोगों की दिलचस्पी कम होती गयी। एक अध्यापक को पहले समाज में अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी पड़ेगी, तब वह समाज में मान्यता प्राप्त कर सकता है। उसका कार्यक्षेत्र केवल विद्यालय में ही सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका प्रसार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, उसे कोर्स के अतिरिक्त कार्यों में लगना चाहिए और सामान्य जन को शिक्षित करने का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए। वह विद्या और चरित्र वाला व्यक्ति होना चाहिए और उसमें व्यापक मानव-सहानुभूति होनी चाहिए। विचार और आचार में भेद नही होना चाहिए। उसे विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समादर करना चाहिए, उसके अन्तरतम में प्रवेश करने की कोशिश करनी चाहिए तथा उसकी आवश्यकताएँ और कठिनाइयाँ समझनी चाहिए। विद्यार्थियों के मानस का निर्माण करना उनके चरित्र का विकास करना तथा उनमें जनतान्त्रिक भाव भरना

अध्यापक का कर्तव्य है। उनमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचार-विनिमय होना चाहिए और अध्यापक को विद्यार्थियों पर अपने विचार लादने की कोशिश नही करनी चाहिए, बल्कि विचाराधीन प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोण उनके सामने रखने चाहिए। ऊपर से अनुशासन नहीं लादना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, आत्म-संयम की शक्ति को जो मानव-प्रकृति में सन्निहित होती है और जिसमे आत्मानुशासन होता है, प्रोत्साहित करना चाहिए। अध्यापक विद्यार्थियों के लिए आदर्श होना चाहिए जिससे वे सम्भवत: अनुकरण करने की कोशिश करें। विद्यार्थियो का जीवन-निर्माण करने में अध्यापकों का बहुत बड़ा हाथ रहता है और हममे से जिन लोगों को वास्तव में अच्छे अध्यापकों के चरण के पास बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अब भी उनको कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते है। जो अध्यापक केवल ज्ञान-वाहन करता है, किन्तु विद्यार्थियों के विचार और चरित्र का निर्माण नहीं करता है, वह एक योग्य अध्यापक नहीं है। सच्चा अध्यापक अपने विद्यार्थियो के सम्मान और प्रेम का भाजन होता है, और उसके लिए अनुशासन पालन कराना अत्यन्त सुलभ होता है। यह कहना गलत है कि इस पीढ़ी के विद्यार्थी ऐसे नहीं रहे। किन्तु यह खेदजनक बात है कि वर्तमान सामूहिक उत्पादन-क्रम मे अनेक अध्यापकों का भी वह स्तर नही रह गया है। राजनीतिज्ञ और अध्यापक, दोनो दुर्भाग्यवश युग के अनुरूप नही बन सके हैं। उनमें अपने कर्तव्य और दायित्व की भावना का दु:खद अभाव दिखायी देता है। यह भी सत्य है कि अध्यापक के लिए समाज को अपना सर्वोत्तम अर्पित करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है। अनेक व्यक्ति इस पेशे के लिए अनुपयुक्त हैं, आम तौर से अध्यापकों को प्रेरणारहित और हतोत्साही परिस्थिति में काम करना पड़ता है, जबकि कुछ प्रतिशत लोग जो अपने पेशे के प्रति ईमानदार हैं और अपनी कठिनाइयों की कुछ परवाह नही करते है, वे आत्मार्पण का जीवन व्यतीत करते है। आम तौर से एक अध्यापक जीवन की सभी सुविधाओ से वंचित रहता है। उसमें सुरक्षा का भाव नहीं रहता है; उसका वेतन अपर्याप्त होता है; उसे अपने कार्यो का उचित प्रतिफल नही मिलता है और उसे साधारणत: समाज में सम्मानजनक स्थान नही मिलता है। काम की दशा भी हमेशा सन्तोषप्रद नहीं होती है। उसकी संस्था में कोई सुसज्जित पुस्तकालय नही होता है, और साधन तथा आवास की कमी होती है। क्लास बड़ी होने के कारण उसे अपने सब विद्यार्थियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना भी कठिन होता है। काम के घण्टे इतने लम्बे हो सकते हैं कि उसे अध्ययन और अनुशासन के लिए सुविधा और आवश्यक अवकाश ही न मिले। अगर औसत श्रेणी के अध्यापक को अपना कार्य भलीभाँति सम्पादित करना है और जीवन मे अपने पेशे के प्रति ईमानदार होना है तो इन सबका उपचार आवश्यक है।

मैंने ऊपर कहा है कि अध्यापक का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थियों के जीवन

में जीवन के उच्च सामाजिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करे। एक अध्यापक तभी उपयोगी हो सकता है जबकि उसके अन्तर्गत बौद्धिक ईमानदारी हो और यह तभी सम्भव है जबकि उसे वैचारिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यह स्वतन्त्रता ही अध्यापक की अमूल्य निधि होती है और किसी भी दशा में इसका परित्याग नहीं हो सकता है। उसे सभी विषयों पर सैद्धान्तिक तरीके से अपने विचार व्यक्त करने की अबाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एक सच्चा अध्यापक अपने युग के विवादास्पद प्रश्नों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता है। उदासीनता का भाव अथवा उससे भी बुरी बात, अधिकारियों के भय से अपने विचारों को छिपाने की इच्छा उसकी मर्यादा के विरुद्ध है। किन्तु यह स्मरण रहे कि चाहे उसका विचार कुछ भी हो, उसे एक प्रचारक अथवा मंचवक्ता बनने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

उसे किसी प्रश्न के सभी पहलुओं पर शान्त तरीके से विचार-विमर्श करना चाहिए और उसके अन्दर किसी प्रश्न के सभी पहलुओं को अपने विद्यार्थियों के समक्ष रखने का विवेक होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि क्या अध्यापक को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं। विश्वविद्यालयों, सहायक स्कूलों तथा कालेजों के अध्यापक इस समय भी राजनीति में भाग लेने के लिए स्वतन्त्र हैं, किन्तु सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में यह बात सच नहीं है। कोई कारण नहीं कि उनको भी ऐसी स्वतन्त्रता नहीं दी जाय। मेरा यह विचार है कि 'सरकारी कर्मचारियों के आचरण सम्बन्धी नियम' इस मामले में लागू नहीं होने चाहिए। इस संसार में कोई ऐसा कारण नहीं कि एक सरकारी स्कूल के अध्यापक और सहायता-प्राप्त स्कूल के अध्यापक में इतना भेद हो। ऐसे नियम की क्या आवश्यकता है कि एक अध्यापक सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना प्रेस के लिए कुछ नहीं लिख सकता है।

किसी अध्यापक को अपने देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन मे भाग लेने से नहीं रोकना चाहिए। मैं जानता हूँ कि मैं यहाँ जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा हूँ, उसमें खतरे भी सन्निहित हैं। कुछ अध्यापक इस सुविधा का दुरुपयोग करेंगे और सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के मान्य स्तर की रक्षा नहीं कर सकते हैं। वे अपने विद्यार्थियों को सिद्धान्त-विशेष की दीक्षा देने लगेंगे। किन्तु स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की आशंका से उसका अपहरण नहीं होना चाहिए। उल्लंघन होने पर उसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए उचित कार्रवाई की जा सकती है। किन्तु ऐसे उल्लंघन के बहाने वैचारिक स्वतन्त्रता में ही कमी नहीं होनी चाहिए। और यह स्वतन्त्रता केवल विश्वविद्यालय के अध्यापकों को ही नहीं मिलनी चाहिए, बल्कि यह निम्नतम श्रेणी के अध्यापकों तक को भी प्राप्त होनी चाहिए।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ——— और उसके प्रधान के बीच सम्बन्ध

सदैव मैत्रीपूर्ण नहीं रहता है। यह अत्यावश्यक है कि उनके बीच सद्भाव रहे और अध्यापकों के सुझाव और आलोचना को बुरा नहीं मानना चाहिए, बल्कि विभागीय अध्यक्षों द्वारा उसका स्वागत करना चाहिए। संस्था के सामान्य हित की दृष्टि से उनमें सहकारिता की इच्छा होनी चाहिए, जिसके अभाव में कोई सच्चा सहयोग सम्भव नहीं है, केवल अधिकारियों का यन्त्रवत् आज्ञापालन होगा।

सहायता-प्राप्त और प्राइवेट संस्थाओं में अध्यापकों की अवस्था और भी खराब है। उन्हें काम की सुरक्षा बहुत कम है और कभी-कभी तो जातीयता का विचार कर नियुक्तियाँ की जाती हैं। वेतन-दर न्यूनतर होती है और काम की शर्तें असन्तोषजनक। यही कारण है कि उनके अध्यापक यह माँग करते है कि उनकी संस्थाएँ सरकार अपने अधिकार में ले ले। और जब अध्यापक अपना संगठन बनाते हैं तो उन पर ट्रेड यूनियन बनाने का आरोप लगाया जाता है। वर्तमान प्रति-स्पर्धात्मक समाज में अध्यापकों के समक्ष अपने अधिकारों की रक्षा और विस्तार के लिए संगठित होने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। किन्तु अपने अधि-कारों की रक्षा तथा स्वार्थ-साधन के लिए सामूहिक मोलभाव के साथ शिक्षा मे उन्नति करने के लिए एक सहकारी प्रयास भी होना चाहिए। ऐसे संगठनो को वेतन, कार्यविधि इत्यादि मामलों को देखना चाहिए और उनकी शिकायतो को हल करने का भी प्रभावकर साधन बनना चाहिए। किन्तु उन्हें शिक्षा की समस्याओं पर भी विचार-विमर्श करना चाहिए और अध्यापन-वृत्ति को ऊँचा उठाने की कोशिश करनी चाहिए। उन्हें अध्यापकों के आचरण के लिए एक मान-दण्ड तैयार करना चाहिए जिसका व्यवहार में पालन किया जाय। संगठन इस बात को ध्यान में रखें कि किसी अध्यापक के दुराचार से उस पेशे की प्रतिष्ठा मे धक्का नहीं लगना चाहिए और सभी श्रेणी के अध्यापकों में भ्रातृत्व और एकता का भाव उत्पन्न हो। मा-बाप और अध्यापकों में सम्पर्क स्थापित कराने के लिए भी संगठन बनने चाहिए। बच्चे की उन्नति की दृष्टि से अभिभावकों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और जब मा-बाप और विद्यालय, दोनों बच्चे की भलाई मे समान रूप से योगदान करेंगे तभी विशेष प्रगति हो सकती है। सबसे मुख्य बात यह है कि अगर अध्यापक विभिन्न तरीकों से अपने को समाज में उपयोगी बनाते हैं और समाज में अपने दायित्व के प्रति सचेत हैं तो वे अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करेंगे और समाज में उनकी मर्यादा बढ़ेगी।

यह एक आम शिकायत है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्तर का ह्रास हो रहा है, विद्यार्थियों में अपने सामान्य संस्कृति की कोई पृष्ठभूमि नहीं है और उनका मानसिक विकास अत्यन्त हीन है। किन्तु विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर पृथक रूप से नहीं सोचा जा सकता है शिक्षा की विभिन्न में एकता

सदैव मैत्रीपूर्ण नहीं रहता है। यह अत्यावश्यक है कि उनके बीच सद्भाव रहे और अध्यापकों के सुझाव और आलोचना को बुरा नहीं मानना चाहिए, बल्कि विभागीय अध्यक्षों द्वारा उसका स्वागत करना चाहिए। संस्था के सामान्य हित की दृष्टि से उनमें सहकारिता की इच्छा होनी चाहिए, जिसके अभाव में कोई सच्चा सहयोग सम्भव नहीं है, केवल अधिकारियों का यन्त्रवत् आज्ञापालन होगा।

सहायता-प्राप्त और प्राइवेट संस्थाओं में अध्यापको की अवस्था और भी खराब है। उन्हें काम की सुरक्षा बहुत कम है और कभी-कभी तो जातीयता का विचार कर नियुक्तियाँ की जाती हैं। वेतन-दर न्यूनतर होती है और काम की शर्तें असन्तोषजनक। यही कारण है कि उनके अध्यापक यह माँग करते हैं कि उनकी संस्थाएँ सरकार अपने अधिकार में ले ले। और जब अध्यापक अपना सगठन बनाते हैं तो उन पर ट्रेड यूनियन बनाने का आरोप लगाया जाता है। वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक समाज में अध्यापकों के समक्ष अपने अधिकारों की रक्षा और विस्तार के लिए संगठित होने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। किन्तु अपने अधिकारों की रक्षा तथा स्वार्थ-साधन के लिए सामूहिक मोलभाव के साथ शिक्षा मे उन्नति करने के लिए एक सहकारी प्रयास भी होना चाहिए। ऐसे संगठनों को वेतन, कार्यविधि इत्यादि मामलों को देखना चाहिए और उनकी शिकायतों को हल करने का भी प्रभावकर साधन बनना चाहिए। किन्तु उन्हें शिक्षा की समस्याओं पर भी विचार-विमर्श करना चाहिए और अध्यापन-वृत्ति को ऊँचा उठाने की कोशिश करनी चाहिए। उन्हें अध्यापकों के आचरण के लिए एक मानदण्ड तैयार करना चाहिए जिसका व्यवहार में पालन किया जाय। संगठन इस बात को ध्यान में रखें कि किसी अध्यापक के दुराचार से उस पेशे की प्रतिष्ठा मे धक्का नहीं लगना चाहिए और सभी श्रेणी के अध्यापकों में भ्रातृत्व और एकता का भाव उत्पन्न हो। मा-बाप और अध्यापकों में सम्पर्क स्थापित कराने के लिए भी संगठन बनने चाहिए। बच्चे की उन्नति की दृष्टि से अभिभावकों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और जब मा-बाप और विद्यालय, दोनों बच्चे की भलाई मे समान रूप से योगदान करेंगे तभी विशेष प्रगति हो सकती है। सबसे मुख्य बात यह है कि अगर अध्यापक विभिन्न तरीकों से अपने को समाज में उपयोगी बनाते हैं और समाज में अपने दायित्व के प्रति सचेत हैं तो वे अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करेंगे और समाज में उनकी मर्यादा बढ़ेगी।

यह एक आम शिकायत है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्तर का ह्रास हो रहा है, विद्यार्थियों में अपने सामान्य संस्कृति की कोई पृष्ठभूमि नहीं है और उनका मानसिक विकास अत्यन्त हीन है। किन्तु विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर पृथक रूप से नहीं सोचा जा सकता है। शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं में एकता

होती है और उच्चतम अवस्था के स्तर में ह्रास हो रहा है तो इसका कारण यह है कि नीचे का स्तर जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। माध्यमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और उच्चतर शिक्षा को पूर्ण लाभदायक बनाने के लिए इस कड़ी को सुदृढ़ बनाना पड़ेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा बिल्कुल दोषरहित है। ज्ञान के क्षितिज का अपार विस्तार होने के कारण आधुनिककाल के किसी विद्यार्थी को पुराने समय के अपने अग्रजों से अधिक जानकारी रखने की आवश्यकता है। समुचित मानसिक विकास के लिए उसे यह जानना आवश्यक है कि वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप का समाज की दृष्टि से वस्तुतः क्या महत्त्व है। उसे सामाजिक कल्याण के लिए विज्ञान की महत्ता को समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे जनतान्त्रिक भावों तथा सामाजिक आदर्शों से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिए भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के साथ मानवता का योगदान श्रेयस्कर कहा जाता है। इससे संकीर्ण विशेषीकरण के दोषों का परिहार करने मे भी सहायता मिलेगी। एक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित संस्कृति और सामान्य शिक्षा सभी विशेषीकृत शिक्षा की पृष्ठभूमि होनी चाहिए। उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बिना किसी वृत्ति विशेष की योग्यता प्राप्त कर लेने से विद्यार्थी जीविकोपार्जन करने में तो समर्थ हो जायगा किन्तु इससे उसकी जीवन की समुचित तैयारी पूरी नहीं हो सकेगी। एक मनुष्य को केवल रोटी से ही सन्तुष्ट नही हो जाना है, बल्कि उसे अपने समाज का भी उपकार करना है और एक स्वतन्त्र और जनतान्त्रिक राज्य के नागरिक की हैसियत से अपने अधिकारों के उचित प्रयोग तथा कर्तव्यों का निर्वाह करना है। अगर माध्यमिक शिक्षा को सही तरीके से संगठित किया जाय तो सब त्रुटियाँ काफी हद तक दूर हो जायेगी। किन्तु जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता है, विश्व-विद्यालयों में सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था होनी चाहिए, जैसा कि सयुक्त राज्य अमरीका के कुछ कालेजों मे हुआ है। विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को, चाहे वह किसी विभाग का हो, अपने देश के विधान की रूपरेखा भूतकालीन इतिहास तथा आधुनिक विश्व के सम्बन्ध में कुछ जानकारी रखना चाहिए। उसे आधुनिक विचारधारा का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए और अपने लिए एक सामाजिक दर्शन बनाने की कोशिश करनी चाहिए। उसे वैज्ञानिक विचार-पद्धति का अभ्यास करना चाहिए और उसकी विचार-प्रक्रिया तर्कपूर्ण होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह नही कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में परीक्षा की दृष्टि से इन विषयों का समावेश किया जाय, यह वांछनीय भी नहीं है। अगर 'एक्सटेंशन लेक्चर' की व्यवस्था की जाय और शिक्षक और शिक्षार्थी में निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय तो नवयुवक विद्यार्थियों पर बिना अधिक भार डाले ही यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। 'ट्यूटोरियल' पद्धति को सुसंगठित कर देने से

यह अधिक लाभदायक हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि यह खर्चीली व्यवस्था है, किन्तु अगर हम अपने विद्यार्थियों का सचमुच बौद्धिक विकास करना चाहते हैं तो इस अतिरिक्त व्यय की परवाह नहीं करनी चाहिए।

वर्तमान राष्ट्रीय संघर्ष के युग में जब कि लोगों को युद्ध की बराबर आशंका बनी रहती है, यह आवश्यक है कि हम लोग विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की अभिवृद्धि में अनवरत प्रयत्न करते रहें। इस संघर्ष के कारणों का उन्मूलन करने में शिक्षा भी कुछ हद तक सहायक हो सकती है। दुर्भाग्यवश शिक्षा में प्रधान भावधारा अब भी अति राष्ट्रवादी है, और यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से विभिन्न राष्ट्रों में सद्भाव बढ़ाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित की गयी है और यह घोषित किया गया है कि "मनुष्यों के मानस को व्यवस्थित करने के लिए संस्कृति का व्यापक प्रसार आवश्यक है" और तदनुसार मौलिक शिक्षा का एक विश्वव्यापी कार्यक्रम भी तैयार किया गया है, किन्तु यह प्रयास आंशिक रूप से भी सफल नहीं हो सकता है जब तक कि उसे शिक्षा के अन्दर तीव्र राष्ट्रवादी नीति में हस्तक्षेप करने का पर्याप्त अधिकार न दिया जाय। सबसे बड़ा अपराध इतिहास और भूगोल की शिक्षा में होता है। इसमे सामान्य प्रवृत्ति अपने देश को अति मूल्यवान बनाने तथा दूसरे का अवमूल्यन करने की होती है। छोटे-मोटे भेदभाव को आत्यन्तिक रूप दे दिया जाता है और समता की काफी उपेक्षा की जाती है। हमारा राष्ट्रीय स्वाभिमान और दूसरे राष्ट्रों के प्रति अनभिज्ञता उनके बीच एकता स्थापित करने में बाधक होती है। किन्तु यह समझना गलत है कि केवल शैक्षणिक प्रयास से ही इन सब विरोधों का उन्मूलन हो जायगा। इन रोगों का कारण अधिक गहरा है। इसके कारण न केवल मनोवैज्ञानिक हैं, बल्कि राजनैतिक और आर्थिक भी हैं। जब तक इन सब कारणों का उन्मूलन नहीं हो जाता है तब तक संघर्ष का निराकरण नहीं हो सकता है। शिक्षा इतना ही कर सकती है कि वह अन्य राष्ट्रों के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न करे, और यह बतावे कि सामाजिक व्यवहार को कुछ हद तक नियन्त्रित किया जा सकता है और अभीप्सित सामाजिक परिवर्तन न्यूनतम संघर्ष से ही सम्पन्न हो सकता है।

अब मैं दो-एक अन्य बातों का उल्लेख करना चाहता हूँ जो आजकल विद्वत्परिषदों मे अक्सर चर्चा का विषय बनी हुई है। इनमें एक शिक्षा के माध्यम से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रभाषा का प्रश्न अन्तिम रूप से हल हो गया है। प्रायोगिक रूप से यह भी निश्चय हो गया है कि विश्वविद्यालय में भी प्रादेशिक भाषा शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। मेरे विचार से इस प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। मेरा मत है कि विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। १९४९ में शिक्षा विभाग की ओर से उपकुलपतियों का जो सम्मेलन बुलाया गया

था, उसमें मैंने यह विचार व्यक्त किया था, किन्तु उस समय इसे पर्याप्त समर्थन नही प्राप्त हो सका। प्रादेशिक भाषा के पक्ष में निर्णय से शिक्षा में संकीर्णता को निश्चित रूप से प्रोत्साहन मिलेगा। अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड समान शिक्षा-स्तर की आवश्यकता पर जोर दे रहा है ताकि एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्व-विद्यालय में विद्यार्थियों का आवागमन सुगम हो सके। किन्तु अगर विश्वविद्यालयो मे प्रादेशिक भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया तो आवागमन बिल्कुल असम्भव हो जायगा। अध्यापकों की नियुक्ति भी प्रादेशिक आधार पर करनी पड़ेगी और चुनाव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जायगा। इस कार्य-प्रणाली से शिक्षा-स्तर में ह्रास तथा प्रान्तीयता मे अभिवृद्धि होना अवश्यम्भावी है। जब 'यूनेस्को' में बड़े पैमाने पर विद्यार्थियों के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर विचार हो रहा है और शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने की योजना बन रही है, हम अभी तक प्रदेश के आधार पर ही सोचने में लगे हुए हैं, राष्ट्र को भी अपना आधार नही बना सके है। जब तक हम विभिन्न प्रदेशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध को सुदृढ़ नही बनाते है और बड़ी संख्या मे ऐसे लोगों को तैयार नही करते जो एक सामान्य भाषा में अपने सर्वोत्कृष्ट विचारों को व्यक्त कर सकें तब तक हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय एकता स्थापित नहीं हो सकती है। अगर हम प्रत्येक विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था कर दे और विश्वविद्यालयों में राष्ट्रभाषा को शिक्षा का माध्यम बना दें तो यह उद्देश्य सफल हो सकता है। यह क्रम धीमी गति से होगा और ऐसी नीति का अनुसरण करना भी आवश्यक है, किन्तु अगर हम अभी निश्चय नहीं कर लेते है तो विश्व-विद्यालयों में शिक्षा का एक सामान्य माध्यम कभी नहीं हो सकेगा। मैं आप लोगों को आश्वासन देना चाहता हूँ कि मैं हिन्दी के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टि से प्रेरित होकर यह प्रस्ताव नहीं रख रहा हूँ। अगर किसी अन्य भारतीय भाषा को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाय तो मैं तुरन्त उसे मान लूंगा। मेरी एकमात्र आकांक्षा राष्ट्रीय एकता का निर्माण है। इसी कारण से मैं इस विचार का प्रति-पादन करता हूँ कि दक्षिण भारत की किसी एक भाषा का अध्ययन उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में अनिवार्य कर दिया जाय। मेरा यह भी विचार है कि सभी भारतीय भाषाओं की एक सामान्य लिपि होनी चाहिए, किन्तु मैं किसी विशेष लिपि का पक्षपाती नही हूँ। अगर ऐसा सुधार किया जाय तो हममें से प्रत्येक के लिए कुछ अन्य भारतीय भाषाओं को अधिक सुविधापूर्वक और अपेक्षाकृत स्वल्प काल में ही सीख लेना आसान है। मैं जानता हूँ कि लोग इस समय मेरे सुझाव का समर्थन नहीं कर रहे हैं, किन्तु मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि कालक्रम में व्याव-हारिकता और राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की सुदृढ़ इच्छा के फलस्वरूप हम लोग उन्हें अपनाने के लिए बाध्य होंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा की योजना में सांस्कृतिक अध्ययन के महत्त्व के प्रश्न पर भी मैं आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इसे यथोचित स्थान नहीं प्राप्त हो सकता है। अगर विदेशों में हमें सम्मान प्राप्त होता है तो इसका कारण हमारी पुरानी विरासत है और टैगोर और गांधी जैसे महापुरुष हैं, किन्तु स्वतन्त्र भारत में संस्कृत के अध्ययन में ह्रास हुआ है और इस प्रवृत्ति को रोकने की कोई कोशिश नहीं की गयी है। आल इण्डिया ओरियण्टल कांग्रेस ने भारतीय विद्या में उच्च अध्ययन और अनुसन्धान को प्रोत्साहित करने के लिए एक सेण्ट्रल रिसर्च इंस्टीट्यूट स्थापित करने की माँग की थी, किन्तु सरकार ने आर्थिक कठिनाई के बहाने उसे स्वीकार नहीं किया। हम अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं और इसका व्यवसाय भी करते हैं, किन्तु जब कुछ करने की बात होती है तो अर्थाभाव के बहाने इसकी सुरक्षा के लिए कुछ भी करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। यह मिथ्या मितव्ययिता है। संस्कृत भारतीय विचारधारा और संस्कृति का उद्गम-स्थान है और अगर हम अपनी संस्कृति का प्रसार करना चाहते है तो हमें संस्कृत, पाली और प्राकृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं मे अनुवाद प्रकाशित करना चाहिए। हमें प्राचीन हस्तलेखों तथा ऐतिहासिक खोजों को भी प्राप्त करने और सुरक्षित रखने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। यह लज्जास्पद बात है कि अब भी भारतीय विद्यार्थी संस्कृत का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेश जाते है। आधुनिक अनुसंधान-पद्धति सिखाने के लिए हम कुछ विदेशी भारतीय विद्या-विशारदों को सहायता के लिए आमन्त्रित कर सकते है। वे उन क्षेत्रों में कुछ नवयुवकों को सुशिक्षित भी कर सकते है जिनमे हम हीन हैं, किन्तु धीरे-धीरे हिन्दुस्तान को विश्व में संस्कृत विद्या का मुख्य केन्द्र बनाना चाहिए और विदेशों से विद्यार्थियों तथा विद्वानों को आकृष्ट करना चाहिए।

मैंने शिक्षा से सम्बन्धित कुछ मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की संक्षेप में चर्चा की है। अगर शिक्षा का ध्येय उचित रीति से निर्धारित कर दिया जाय और शिक्षा के गत्यात्मक पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो अध्ययन की एक समन्वित योजना तैयार करने में कोई कठिनाई नही होगी। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य महान है, क्षेत्र बृहद् है, पर कार्यकर्ता स्वल्प हैं। हमारी मानव-शक्ति परिमित है और भौतिक साधन अत्यन्त अपर्याप्त हैं, किन्तु राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण जनता की आधारभूत भौतिक आवश्यकताओं को छोड़कर अन्य सभी विषयों में इसे प्रथम स्थान मिलना चाहिए।

हममें ऐसे कुछ ही व्यक्ति हैं जिनमें शिक्षा को नयी दिशा प्रदान करने के लिए आवश्यक दृष्टि तथा गम्भीर बुद्धि है। ऐसे बहुत कम व्यक्ति है जिन्हे इस कार्य में सजीव आस्था है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या चाहे कितनी कम क्यों न

हो, उन्हें शिक्षा में नये आन्दोलन का सूत्रपात करने के लिए एक संगठन अवश्य बनाना चाहिए। हिन्दुस्तान इस दलदल से तभी पार पा सकता है जब यहाँ के राजनीतिज्ञ और अध्यापक अपने दायित्व के प्रति सचेत हों। एक राजनीतिज्ञ को यह समझना चाहिए कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले भाषण देने का जो महत्त्व था वह अब नहीं रह गया है। आज उसमें पर्याप्त मात्रा में बुद्धिमत्ता, साहस और रचनात्मक विचार का होना आवश्यक है। एक अध्यापक को यह समझना होगा कि नवयुवकों को भावी जीवन के लिए तैयार करना तथा उनके अन्दर जनता की सेवा करने के लिए कुशलता उत्पन्न करना अध्यापक का पुनीत कर्तव्य है।

जिन परिस्थितियों में हम लोगों को कार्य करना है, वे हतोत्साही हैं। सम्भव है कि अधिकार-लिप्सा के कारण राजनीतिज्ञ स्थिति की वास्तविकता अनुभव न करे। उसे बुद्धि की आवाज भी नहीं सुनायी दे सकती है, किन्तु अध्यापक अभी काफी हद तक अधिकार-लिप्सा के रोग से मुक्त हैं, उनसे ऐसी स्थिति में आगे बढ़ने की आशा की जा सकती है। हमें हाथ-पर-हाथ रखकर बैठना नहीं चाहिए, इस विश्वास के साथ कि अन्ततोगत्वा कुछ भला ही होगा। घटना-प्रवाह गलत दिशा में उन्मुख है और अगर हम लोग दृढ़तापूर्वक इस पतन की प्रक्रिया को नहीं रोकते हैं तो हम महासंकट में फँस जायेंगे। समता, सामाजिक न्याय और सहयोग पर आधृत एक जनतान्त्रिक समाज का निर्माण करने के लिए हमें एक नये प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकता है। यद्यपि केवल चन्द व्यक्तियों को ही यह नूतन दृष्टि प्राप्त हो सकी है, तो भी शिक्षा के इस नये दृष्टिकोण का सामाजिक महत्त्व है, यह प्रसार और शक्ति-संचय अवश्यम्भावी है और इस प्रकार कालक्रम में यह सर्वमान्य हो जायगा। फिलहाल यह छोटा-सा संगठन वह मंथन-कार्य करेगा जिससे प्रकाश प्रकाशित होगा।

स्वतन्त्र भारत में विश्वविद्यालयीय शिक्षा

प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में समावर्तन-संस्कार का दिन चिरस्मरणीय होता है और इसलिए यह उचित है कि इस अवसर पर एक अनुष्ठान का विधान हो। प्राचीन काल में हमारे गुरुकुलों में यह महत्त्वपूर्ण संस्कार मनाया जाता था। इस संस्कार के जो मन्त्र तैत्तिरीय शिक्षा में पाये जाते है उनसे उत्कृष्ट शिक्षा नही हो सकती। वे उदात्त विचार आज भी नवीन है और हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते है। उनसे गुरु-शिष्य के परस्पर मधुर सम्बन्ध का पता चलता है और सबसे विशिष्ट बात यह है कि शिक्षा को हमारे पूर्वज गुरु और अन्तेवासियों का सम्मिलित कर्तव्य समझते थे। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालय के अध्यापक, विद्यार्थी और व्यवस्थापक एक-दूसरे के सहयोगी हैं। इस पुराने भाव को हमे फिर से जगाना है। जितनी ही अधिक मात्रा में इस भाव को अपनायेंगे उतनी ही अधिक मात्रा मे हमको शिक्षा के क्षेत्र में सफलता प्राप्त होगी। तैत्तिरीय शिक्षा में दिये हुए उपदेश से श्रेष्ठतर उपदेश क्या हो सकता है। थोड़े से चुने हुए शब्दों मे कुलपति अन्तेवासियों को एक सारगर्भित उपदेश देता है। समावर्तन के अवसर पर उपदेश देने का अधिकार कुलपति को ही है, कि बाहर से किसी प्रिय व्यक्ति को आमन्त्रित करने का रिवाज-सा पड गया है। इस प्रथा के अनुसार आपने यह कर्तव्य इस वर्ष मुझे सौंपा है। यद्यपि मैंने अपने जीवन के विशिष्ट भाग को विद्यापीठ की सेवा मे व्यय किया है तथापि आपके विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो से निकट सम्पर्क मे आने का मुझे अवसर नही मिला है। इस दृष्टि से मैं इन स्नातको को उपदेश देने का अपने को अधिकारी नही समझता। किन्तु जब आपने मुझे इस कार्य के लिए निमन्त्रित किया है तो मैं अपने अनुभव के अनुसार कुछ शब्द आपसे निवेदन करूँ।

पूर्व इसके कि मैं शिक्षा के सम्बन्ध मे अपने कुछ विचार आपके सम्मुख रखूं मेरा यह प्रिय कर्तव्य है कि मैं उन नवीन स्नातकों को बधाई दूं जिन्होंने आज पदवी प्राप्त की है। उनके जीवन मे यह एक विशिष्ट दिन है। उनमें से बहुत-से कार्य-क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे और जो शिक्षा उन्होने प्राप्त की है उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करने का उनको मिलेगा

जो स्नातक अपनी शिक्षा समाप्त करके आज यहाँ से बाहर जा रहे हैं उनके ऊपर एक विशेष उत्तरदायित्व है। हमारा देश आज स्वतन्त्र है। हमको एक नव-राष्ट्र का निर्माण करना है। इस महान कार्य के लिए हमको जीवन के विविध क्षेत्रों में ऐसे विद्याचरण-सम्पन्न नवयुवकों की आवश्यकता है जो सेवाभाव से प्रेरित होकर राष्ट्र के उत्थान के कार्य के लिए अग्रसर हों, हमारे समाज की अनेक आवश्यकताएँ हैं। आज के युग में राज्य की कल्पना भी बदल गयी है। आज राज्य का केवल इतना ही कर्तव्य नहीं है कि वह प्रजा के जान-माल की रक्षा करे अपितु अपनी प्रजा के सर्वाङ्गीण विकास अर्थात् सुखी, समृद्ध तथा शिक्षित करना आज उसका कर्तव्य हो गया है। यह बहुजन समाज का युग है, यह लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का युग है। आधुनिक काल में बहुजन के हितों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज यह सम्भव नहीं है कि हम साधारण जन को शिक्षा से वञ्चित रखें। संस्कृति और ज्ञान कतिपय उच्च वर्गों तक ही सीमित नहीं रखे जा सकते। जब से उद्योग-व्यवसाय के युग का उपक्रम हुआ है तब से सर्वसाधारण की शिक्षा का भी आयोजन हुआ है। लोकतन्त्र की आधारशिला सार्वजनिक शिक्षा है। यह शिक्षा अभी निम्नतम अवस्था में है। सर्वसाधारण की शिक्षा की कल्पना आरम्भ मे प्राथमिक शिक्षा तक ही सीमित थी। इससे सर्वसाधारण के लिए ज्ञान के द्वार का उद्घाटन अवश्य हुआ। किन्तु जब तक सबके लिए माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा सुलभ न हो जावे तब तक इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। सर्व-साधारण की जानकारी में थोड़ी वृद्धि अवश्य होती है, किन्तु वह इस प्रकार सुसंस्कृत और सुसंयत नहीं बन सकते। पुनः व्यवसायी लोग व्यापार के लाभ के लिए उनकी रुचि को विकृत कर देते हैं। वह इस प्रकार के समाचार संगृहीत करते हैं जिससे अधम 'स्व' को प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु धीरे-धीरे यह कल्पना मान्य होने लगती है कि यदि लोकतन्त्र को उन्नत करना है तो सर्वसाधारण की शिक्षा भी उन्नत होनी चाहिए। हमारा देश तो इतना निर्धन है कि आज सर्व-साधारण को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के व्यय का भार ही सहन करना कठिन है। किन्तु यह निश्चित है कि हमको आज ही नवसमाज का आरम्भ करना है। एक स्वतन्त्र समाज के आधार को दृढ़ बनाने के लिए तथा सुन्दर भविष्य का निर्माण करने के लिए लोकतन्त्र के इस उपकरण को समर्थ बनाना है। यदि आज माध्यमिक शिक्षा सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं हो सकती तो प्राथमिक शिक्षण का सूत्रपात तो करना ही चाहिए। हमें हर्ष है कि हमारे प्रान्त में इस कार्य का श्रीगणेश हो गया है तथा १० वर्ष में इस उद्देश्य को पूरा करने का निश्चय किया गया है। यदि शिक्षित समुदाय अपने कर्तव्य को पहचाने और इस कार्य में योग दे तो कम समय में यह प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो सकता है और व्यय में भी कमी हो सकती है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपना काम करते हुए निरक्षरों को साक्षर बना

सकता है। मुहल्ले में, दफ्तर में, हाट में, गाँव के चौपालों में, पाठशाला सर्वत्र यह कार्य अवैतनिक रूप से किसी परिमाण में हो सकता है। आशा है, जो नवयुवक आज शिक्षा समाप्त कर जीवन में प्रवेश कर रहे हैं, वह इस कार्य के महत्त्व को समझेंगे और साक्षरता के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेंगे।

आज हम एक क्रान्तिकारी युग मे रह रहे है। सारा संसार इतिहास के चौराहे पर खड़ा है। हमारी पुरानी संस्थाएँ, हमारे क्रमागत विश्वास, जीवन के प्रति हमारी दृष्टि, हमारे सामाजिक मूल्य, हमारी विचार-पद्धति, हमारी अर्थ-नीति और समाज-नीति सब परिवर्तित हो रहे हैं। एक युग की परिसमाप्ति तथा नव-युग का उपक्रम हो रहा है। ऐसे संक्रमण काल में हम रह रहे हैं। ऐसे सक्ट के समय में बुद्धि-विभ्रम होना स्वाभाविक है। प्रत्येक के लिए अपने कर्तव्य को निश्चित करना कठिन होता है। मनुष्य भय, संशय, अनिश्चितता तथा सुरक्षा के अभाव के कारण चिन्ताग्रस्त होता है और बहुत-से ऐसी अवस्था में वास्तविकता का सामना करने से घबराते हैं तथा सुदूर अवनि में अपना मुँह छुपाते है। हमारे दुर्भाग्य से हमारे देश में जो साम्प्रदायिक कलह आरम्भ हो गया है वह हमारे कार्य को और भी दुष्कर कर देता है। जनता का ध्यान मौलिक प्रश्नों से हटकर गौण प्रश्नों की ओर चला जाता है और इस विषाक्त तथा दूषित वातावरण में जीवन के सामाजिक मूल्य और नैतिकता भी नष्ट हो जाते है। विद्वेष की इस अग्नि को बुझाना शिक्षितों का काम है। इससे भी अधिक आवश्यकता है उन उच्च मान्यताओं की रक्षा करना जिनके आधार पर ही एक सुदृढ़ और जन-तन्त्रात्मक राष्ट्र की रचना हो सकती है। यदि हमारे नवयुवकों का, जिनके हाथ में नेतृत्व आने वाला है, जीवन के मूल्यों के प्रति आदरभाव नहीं होगा तो इस देश का भविष्य आशाप्रद नहीं हो सकता। प्रत्येक को अपने दिल को टटोलना है और आत्मसमीक्षा करनी है। हमें सन्देह नहीं कि हमको अपने राष्ट्र को सबल बनाना है, इतना सुदृढ़ बनाना है कि उसका कोई बाल बाँका न कर सके। किन्तु यह इसलिए जिसमें एक स्वस्थ, सुसंस्कृत समाज चिरकाल तक मानवता का निरन्तर विकास कर सके। अत: जहाँ हमारे नवयुवकों को सैनिक-शिक्षा लेकर अपने को देश-रक्षा के कार्य के लिए उपयुक्त बनाना है वहाँ उनको अपने समाज की अवस्था का अध्ययन कर अपनी समस्याओं का समाधान करने की योग्यता भी अपने में प्रतिपादित करनी है। इस युग मे सफलता की कुञ्जी आत्मसंयम, साहस और सद्बुद्धि में है। हमारी अर्थनीति इतनी पुरानी पड़ गयी है कि आज वह हमारी उन्नति में बाधक हो रही है। आर्थिक और सामाजिक विषमता के कारण हमारा समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है। कठोर वर्णव्यवस्था, अस्पृश्यता, दरिद्रता और निरक्षरता हमारे समाज के अभिशाप है। नवयुवकों को परस्पर के भेद-भाव को मिटाना है तथा आर्थिक संगठन में क्रान्ति-कारी परिवर्तन कर देश की दरिद्रता और बेकारी को दूर करना है पुन लोकतन्त्र

की भावना को पुष्ट करने के लिए सहकारिता का आन्दोलन अत्यन्त आवश्यक है। लोकतन्त्र के हम अभ्यस्त नहीं हैं और इसीलिए अभी इसकी परम्परा भी प्रतिष्ठित नहीं हुई है। अतः परस्पर सहयोग की भावना को पुष्ट कर हम लोक-तन्त्र को स्थायी बना सकते है तथा गाँवों में एक नवीन जीवन का संचार कर सकते है। यह सब समाज-सेवा के काम नवयुवकों को करने है। यह तभी सम्भव है जब जीवन का कोई गम्भीर उद्देश्य हो और जनता की हमारी दृष्टि मे प्रधानता हो। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र-निर्माण के कार्य में अपनी योग्यता के अनुसार भाग ले सकता है। यदि हम अपने उज्ज्वल भविष्य में निष्ठा रखते हैं और इस बात का ज्ञान रखते हैं कि अपने देश के भाग्य के निर्माण में हमारा क्या दान हो सकता है तभी हमको कार्य करने का उत्साह मिल सकता है। नवयुवकों में काम करने की अपूर्व शक्ति, उत्साह और साहस होता है। इसके साथ-साथ यदि सामाजिक आवश्यकताओं का ज्ञान भी हो और लक्ष्य हो तो हमारे नवयुवक आज की कठिनाइयों का सामना कर सकते हैं। मुझे आशा है कि हमारे स्नातक एक नवीन दृष्टि और एक नवीन विचार-पद्धति को लेकर जीवन में प्रवेश करेंगे। मैं जानता हूँ कि उनका पथ कंटकाकीर्ण है, उनको वनकटी करना है, उनको एक नूतन समाज की रचना करनी है और उनके साधन और उपकरण स्वल्प और अपर्याप्त हैं। किन्तु यदि उनकी दृढ़ निष्ठा है और वह सत्संकल्प को लेकर अध्यवसाय के साथ आगे बढ़ने को तैयार है तो मुझे अपने देश का भविष्य गौरवमय प्रतीत होता है। इस शुभ संकल्प में मैं उनके साथ हूँ और मै उनकी सफलता के लिए प्रार्थी हूँ और मेरी शुभ कामनाएँ उनके साथ हैं।

अब आपकी अनुमति से विश्वविद्यालय की शिक्षा के महत्त्व के सम्बन्ध में तथा उसकी क्या आवश्यकताएँ हैं इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि लोकतन्त्र की स्थापना के लिए सर्वसाधारण की शिक्षा की परम आवश्यकता है। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इससे उच्च शिक्षा के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी आ जाती है। एक सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति का हमको विकास करना है। शिक्षा के प्रासाद की आधारशिला सर्वसाधारण की प्राथमिक शिक्षा है। किन्तु जिस भवन का निर्माण इस आधार पर होता है उसके कई तल्ले हैं और सबसे ऊँचा तल्ला विश्वविद्यालय की शिक्षा तथा हर प्रकार की गवेषणा का है। राज्य का कर्तव्य है कि वह शिक्षा के प्रत्येक अंग को पुष्ट करने का प्रयत्न करे। शिक्षा का एक निरन्तर क्रम चलता रहता है और सब अंग एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः एक को दुर्बल कर हम दूसरे की पुष्टि नहीं कर सकते। विश्वविद्यालय की शिक्षा में उसका चरमोत्कर्ष पाया जाता है। एक सामान्य नागरिक का विकास करना तथा एक सामान्य सांस्कृतिक दायाद की शिक्षा को सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर देना सर्वसाधारण की शिक्षा का उद्देश्य होन

चाहिए। किन्तु बिना उच्च शिक्षा का उचित विधान किये राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों के लिए विशेषज्ञ नहीं मिल सकते। आज विज्ञान का युग है। विज्ञान के द्वारा ही हमने प्रकृति पर विजय पायी है।

आज विज्ञान के बल से मनुष्य की दरिद्रता दूर की जा सकती है, बियाबान को हम चमन बना सकते हैं। आज मानवी शक्ति की महती वृद्धि हुई है। यह विश्वास होने लगा है कि यह शक्ति असीम है। आज कोई भी परिवर्तन असम्भव नहीं प्रतीत होता है। इसके कारण आधुनिक वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक पद्धति ने उन लोगों की दृष्टि मौलिक रूप से बदल दी है जो राज्य की शक्ति संचालित करते है। फलस्वरूप राज्यशक्ति के मद से उन्मत्त लोगों ने समाज के लिए दुर्घटनाएँ उपस्थित कर दी हैं जो भयावह हैं।

आज समाज में असामञ्जस्य है। यह असामञ्जस्य तब तक दूर नहीं होगा जब तक हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि मनुष्य की शक्ति की कुछ आवश्यक सीमाएँ हैं, वह अपरिमित नहीं है तथा मनुष्यों का एक-दूसरे पर जो अधिकार हो उसकी भी सीमा मर्यादित हो जानी चाहिए। एक ओर उद्योग-व्यवसाय के मालिक हैं, दूसरी ओर श्रमिकों का समुदाय है। इनके हितो में तीव्र विरोध है। यह विरोध जनतन्त्र को छिन्न-भिन्न करता है। यदि समता और जनतन्त्र को सबल बनाना है तो सामाजिक संगठन का वह नमूना जिसे १९वी शताब्दी के व्यवसाय-संगठन ने कायम किया है, बदलना चाहिए।

मुझे खेद है कि मैं विषयान्तर में चला गया। मैं निवेदन कर रहा था कि आज हम अपनी समस्याओं को विज्ञान की सहायता के बिना नहीं हल कर सकते। अत राष्ट्र की उन्नति के लिए विज्ञान की शिक्षा की उन्नति करना तथा गवेषणा की समुचित व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है। राष्ट्र-निर्माण का काम विविध विद्याओ के विशेषज्ञों के बिना नहीं चल सकता। यह ठीक है कि छात्रवृत्ति देकर विदेश में विद्यार्थी भेजे जा रहे हैं किन्तु कतिपय कठिनाइयों के कारण इनकी संख्या स्वल्प ही हो सकती है। अतः, आज की अवस्था को देखते हुए अपने देश मे विविध प्रकार की शिक्षा की विशेष व्यवस्था करनी होगी और कुछ काल के लिए बाहर से भी विशेषज्ञ बुलाने होंगे। केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को विश्वविद्यालयो की शिक्षा के व्यय का एक अच्छा भाग देना चाहिए चाहे वह विद्यालय प्रान्तीय विषय ही क्यों न हों। इस सहायता के बिना विश्वविद्यालयो की तात्कालिक आवश्यकताओ की न पूर्ति हो सकती है और न उनका विकास ही। केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को स्वय इस समय एक बड़ी संख्या में विशेषज्ञों की आवश्यकता है और सदा रहेगी। यह विशेषज्ञ प्रान्तों के विश्वविद्यालयों से ही आते है। इनकी संख्या अल्प है। आबादी के २,२०६ में से केवल एक व्यक्ति युनिवर्सिटी की शिक्षा पाता है, जबकि रूस मे अनुपात ३०० में से १ है अत राज्य का काम सुकर करने के लिए तथा विविध

सामाजिक सेवाओं का आयोजन करने के लिए विशेषज्ञों की संख्या में द्रुतगति से वृद्धि होनी चाहिए। इस कार्य का महत्त्व सर्वसाधारण की शिक्षा से भी इस समय अधिक है। इसके लिए पोस्टग्रेजुएट की शिक्षा तथा वैज्ञानिक अन्वेषण का समुचित प्रबन्ध तत्काल होना चाहिए। किन्तु इस कार्य के लिए प्रचुर परिमाण मे धन चाहिए। हमारे देश के विश्वविद्यालय आर्थिक सहायता के लिए राज्य पर निर्भर करते है। यह सत्य है कि हमारे देश में दान का बड़ा महत्त्व है और इसकी परम्परा भी है। किन्तु दान का विविध रूप है और जो कुछ ब्रह्मदान मिलता है वह प्रायः स्थानीय विद्यालयो को जाता है। इस अवस्था में केन्द्रीय गवर्नमेण्ट का विशेष कर्तव्य है और हमारी प्रान्तीय गवर्नमेण्ट को भी सहायता की रकम को उचित मात्रा में बढ़ाना चाहिए। यह सन्तोप का विषय है कि माननीय शिक्षामन्त्री ने हाल में युनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमेटी का संगठन किया है और वैज्ञानिक अन्वेषण के कार्य के लिए भी एक समिति नियुक्त की है।

हमारा देश इतना विस्तृत है कि यहाँ परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँ उच्च शिक्षा थोड़े से चुने हुए केन्द्रों मे नही केन्द्रित की जा सकती। लार्ड हैलडेन का तो यहाँ तक विचार है कि इंगलैण्ड ऐसे छोटे देश में भी ऐसे विश्वविद्यालय अनिवार्य है। इसलिए आगरा विश्वविद्यालय की नितान्त आवश्यकता है। किन्तु यहाँ भी अन्वेषण को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

एक दूसरा विषय जिसकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ, शिक्षा का माध्यम है। अब समय आ गया है जब हमको राष्ट्रभाषा के द्वारा ऊँची-से-ऊँची शिक्षा का आयोजन कर लेना चाहिए। जब राजकाज की भाषा बदल गयी है तब तो यह काम तेजी से होना चाहिए। शिक्षा का माध्यम यथासम्भव तत्काल बदल जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नही है कि हमको किसी विदेशी भाषा का अब सहारा नही लेना है। विदेशी भाषा की आवश्यकता बहुत दिनों तक बनी रहेगी, किन्तु वह शिक्षा का माध्यम न होगी और शिक्षा के कार्यक्रम मे उसको गौण स्थान प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में यह भी कहना आवश्यक है कि अपनी भाषा में सब विषय की ऊँची-से-ऊँची पुस्तकें लिखी जानी चाहिए। किन्तु यह काम किसी एक विश्वविद्यालय के बस का नहीं है। इसके लिए यदि गवर्नमेण्ट की ओर से कोई आयोजन हो और उसमे सब विश्वविद्यालयो तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओ का सहयोग लिया जाय तो अति उत्तम हो। एक निश्चित योजना के अनुसार यह काम होना चाहिए और पाठ्यपुस्तकों की रचना जल्द-से-जल्द हो जानी चाहिए। अंग्रेजी के द्वारा हमको यूरोपीय ज्ञान अब तक मिलता रहा है, पर स्वतन्त्र होने के पश्चात् हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध सब राष्ट्रों से हो गया है। ऐसी अवस्था में अपने देश में संसार की विविध भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था हमको करनी होगी

यदि सब विश्वविद्यालय मिल-जुलकर इस काम को आपस में बाँट ले तो यह काम सुचारु रूप से चल सकता है।

विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है और इसलिए अध्यापक और विद्यार्थी का सम्पर्क भी कम होता जाता है। यह अवस्था अवाञ्छनीय है। परस्पर का सम्पर्क बढाने के लिए ट्यूटोरियल पद्धति का विस्तार एक अच्छा उपाय है। किन्तु यह पद्धति बड़ी महँगी है और इस कारण इसका विस्तार कठिन है जब तक कि धन का प्रबन्ध न हो। पुन: इस पद्धति का तभी पूरा लाभ उठाया जा सकता है जब विद्यार्थी इसको अपने कालेज के जीवन का केन्द्र समझें। हालत यह है कि विद्यार्थी इसको पाठ्यक्रम का एक सामान्य अंगमात्र समझते है और जब तक परीक्षा का स्वरूप नही बदलेगा तब तक अधिकांश विद्यार्थी शिक्षा को वह महत्त्व नही देंगे जो उन्हे देना चाहिए। इतना कहने पर भी यह मानना पड़ेगा कि इस पद्धति से कुछ विद्यार्थियों को लाभ अवश्य होता है। अत: समस्या यह है कि इस पद्धति को जारी करने के अतिरिक्त और क्या करना चाहिए जिससे विद्यार्थी अध्यापकों के निकट सम्पर्क में आये।

अनुशासन का प्रश्न भी इससे सम्बद्ध है। आज चारों ओर से इस बात की शिकायत होती है कि विद्यार्थियों मे संयम की कमी हो गयी है। इसके क्या कारण है? इस पर हमको विचार करना है, क्योंकि बिना रोग का निदान जाने रोग का उपशम नही हो सकता। इस संयम की कमी के अनेक कारण है। जीवन की अनिश्चितता के कारण समाज की सब श्रेणियों मे असन्तोष पाया जाता है। समाज के मौलिक आधार के सम्बन्ध में ही तीव्र मतभेद है। महायुद्ध के पश्चात् आर्थिक कठिनाइयाँ और बढ़ गयी हैं और इसका मनोवृत्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आज हमारे देश में सरकारी विभागों मे भी कुशलता और अनुशासन की कमी आ गयी है। सारा देश इस रोग से ग्रस्त है। आर्थिक कठिनाइयों को बिना दूर किये पूर्ण रूप से संयम का पुन: प्रतिष्ठित होना सुगम नहीं है। जहाँ तक विद्यार्थियो का सम्बन्ध है उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार कर तथा उनके निकट सम्पर्क मे आकर हम इस शिकायत को बहुत कुछ दूर कर सकते है। विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिसमें वह आत्मसंयम के महत्त्व को समझे। बाहर से अनुशासन का आरोप प्राय: व्यर्थ हुआ करता है। हमारे विद्यालयों का वातावरण ही ऐसा होना चाहिए जिसमें असंयम के उदाहरण बहुत कम हो जायँ।

हमारे विद्यार्थियो को भी समझना चाहिए कि उनको अपने राष्ट्र को सबल बनाना है तथा एक नूतन समाज का निर्माण करना है। समाज के वही नेता और निर्माता होंगे। किन्तु आत्म-संयम के बिना कोई भी व्यक्ति किसी जिम्मेदारी के काम को निभा नहीं सकता। शिक्षाकाल का उनको अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहिए, चरित्र-गठन और शरीर-सम्पत्ति के साथ-साथ अपने देश की वर्तमान

समस्याओं का अध्ययन करना चाहिए तथा जनता के निकट सम्पर्क में आना चाहिए। आज की समस्याएँ नवीन हैं और जनता की अभिलाषाओं और आवश्यकताओं को जाने बिना कोई भी कुशल शासक नहीं हो सकता। राष्ट्र के उत्थान के लिए विपुल संख्या में विद्याचरण-सम्पन्न स्त्री-पुरुष चाहिए जो विविध कार्यों मे निपुण हों और जिन्होंने सेवा का व्रत लिया हो।

एक प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि किस प्रकार उन निर्धन विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा सुलभ कर सकते है जिनमें प्रतिभा है और जो उसके अधिकारी सिद्ध हो चुके है। उच्च शिक्षा को गरीब-अमीर सबके लिए सुलभ होना चाहिए। यह ठीक है कि सभी विद्यार्थी युनिवर्सिटी शिक्षा के अधिकारी नहीं हैं। अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों की बड़ी संख्या इसका प्रमाण है। किन्तु इसका कारण है कि विविध शिल्प की शिक्षा प्रदान करने की समुचित व्यवस्था अब तक नहीं हो पायी है। जब ऐसी व्यवस्था हो जायेगी और जीविका के विविध द्वार खुल जायेंगे तब स्वत: ही सब विद्यार्थी युनिवर्सिटी में प्रवेश न लेंगे। किन्तु वे विद्यार्थी जो उसके अधिकारी हैं उससे क्यों वञ्चित रखे जायँ केवल इसलिए कि उनके पास साधनों की कमी है। ऐसे विद्यार्थियों की शिक्षा केवल नि:शुल्क ही न होनी चाहिए वरन् उनके भरण-पोषण का भार भी समाज को उठाना चाहिए। विलायत की युनिवर्सिटियों में ४१ प्रतिशत विद्यार्थियो को किसी न किसी रूप में सहायता दी जाती है, किन्तु हमारे यहाँ ५ प्रतिशत से अधिक विद्यार्थियों को नि:शुल्क शिक्षा नही दी जाती। इस अनुपात में वृद्धि होनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जब गवर्नमेण्ट की ग्राण्ट बढ़े और साथ-साथ विश्वविद्यालय अपनी वृद्धि आप करने के उपाय सोचें। गवर्नमेण्ट के सम्मुख अनेक काम हैं और उनमें से कई समान रूप से आवश्यक हैं। उसकी आय भी सीमित है। अत: केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को युनिवर्सिटी-शिक्षा के लिए पर्याप्त धन देना चाहिए जिसमें गरीब विद्यार्थियों को भी पूरी सहायता दी जा सके तथा पोस्टग्रेजुएट-शिक्षा और गवेषणा का उचित प्रबन्ध किया जा सके। गरीब विद्यार्थियों की सहायता के लिए हमारे प्रान्त के धनवान सज्जनों को पर्याप्त संख्या में छात्रवृत्ति देनी चाहिए। विद्यादान से बढ़कर कोई दान नही है और इसके पाने के सबसे बड़े अधिकारी वह प्रतिभावान विद्यार्थी है जो दरिद्रता के कारण अपनी शक्तियों के विकास का अवकाश नही पाते। प्रान्त के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्डो को भी इस दिशा में कुछ करना चाहिए। उन्हें अपने जिले और शहर के उन विद्यार्थियों में से कुछ को चुनकर छात्रवृत्ति देनी चाहिए जो उसके पात्र हैं।

मैंने कुछ ऐसे प्रश्नों के ऊपर चर्चा की है जो मुझे अत्यन्त आवश्यक मालूम पड़े। किन्तु विश्वविद्यालयों को सफलता तभी मिल सकती है जब अध्यापकों का पुरस्कार ऐसा हो जिससे उनको सन्तोष हो और उनके चित्त की एकाग्रता हे

सके। आज वस्तुओं का मूल्य इतना बढ़ गया है कि लेक्चरर का काम आज के वेतन में किसी प्रकार नहीं चल सकता। अतः पुरस्कार में उचित वृद्धि सब वर्ग के अध्यापकों को हो जानी चाहिए; ऐसा होने से ही हमारे अध्यापक दत्तचित्त होकर शिक्षा का काम कर सकते हैं। उचित पुरस्कार के न मिलने से हमारे यहाँ योग्य शिक्षकों की नितान्त कमी है और यह कमी तभी पूरी हो सकती है जब शिक्षकों की आर्थिक अवस्था में सुधार किया जाय। ऐसा करने से ही हम उनको समाज में सम्मान का स्थान दिला सकते हैं।

मैं एक बार फिर उन सब स्नातकों को बधाई देता हूँ जो आज डिग्री ले रहे हैं। विद्यालय में रहकर बौद्धिक और नैतिक शिक्षा उन्होंने प्राप्त की है। उसका उचित उपयोग करने का अब समय आया है। मैं आशा करता हूँ कि जिस किसी क्षेत्र में वह काम करें वह कार्यकुशल सिद्ध होंगे और अपने व्यवहार और चरित्र से अपने विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ावेंगे। मैं उनकी उन्नति की कामना करता हूँ और प्रार्थी हूँ कि उनको जीवन में सफलता प्राप्त हो।[1]

---

१. ८ नवम्बर सन् १९४७ ई० को पदवीदान के अवसर पर दिया हुआ भाषण।

खण्ड चार

संस्कृति

संस्कृति
भारतीय समाज और संस्कृति
वसुधैव कुटुम्बकम्
धार्मिक आन्दोलनों में एकता का आधार
विविधता में एकता
समष्टि और व्यक्ति
समाज और प्रेस
विचारकों के सम्मुख नयी समस्या
सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न
स्याम और बर्मा के संस्मरण
समाजवाद का सांस्कृतिक स्वरूप
राष्ट्र-रचना का दायित्व

संस्कृति

संस्कृति शब्द का व्यवहार अंग्रेजी शब्द कल्चर के लिए होता है। रवि बाबू प्राचीन आर्य शब्द 'कृष्टि' का व्यवहार करते हैं। संस्कृति शब्द की व्याख्या करना कठिन है। यदि हम शाब्दिक अर्थ लें तो हम कह सकते है कि संस्कृति चित्त-भूमि की खेती है। चूँकि कर्म में मन या चित्त की प्रधानता है अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्त सुभावित है उसकी वाणी और उसकी शरीर-चेष्टा भी सुसस्कृत होगी। जिस प्रकार की हमारी दृष्टि होगी उसी प्रकार का हमारा क्रिया-कलाप होगा। विश्व और मानव के प्रति एक दृष्टि-विशेष की आवश्यकता रहती है। विकास-क्रम से यह दृष्टि व्यापक होती जाती है और जब विश्व की एकता के साधन एकत्र हो जाते हैं तब यह एकता कार्य में परिणत होने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। प्राचीन काल में एक सुभावित चित्त के लिए इतना ही सम्भव था कि वह व्यक्तिगत रूप से विश्व के अखिल पदार्थों के साथ तादात्म्य स्थापित करे और जीवन मात्र के लिए मैत्री और अद्वेष की भावना से वसित हो किन्तु उसके कार्य करने का क्षेत्र बहुत संकुचित था। अतः कार्यरूप में यह भाव एक छोटे क्षेत्र मे ही प्रयुक्त हो सकता था। व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ एक लोकचित्त भी बनता रहता है। मनुष्य सामाजिक है; क्योंकि समाज में रहने से ही उसके गुणों का विकास होता है। अतः समाज में कई बातों में समानता उत्पन्न होती है। समूहों का विस्तार होता रहता है और एक समय आता है जब राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से प्रेरित हो एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोग कुछ बातों में अपनी समानता और एकता का अनुभव करते हैं। एकता की भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है और 'एक विश्व' की भावना की ओर अग्रसर होती है। जिन बातों मे समानता उत्पन्न होती है, उन्हीं के आधार पर लोकचित्त भी बनता है। आज विविध राष्ट्रों का अपना-अपना एक लोकचित्त भी है। किन्तु क्योंकि, आज एक ही प्रकार के अनेक आचार-विचार सारे विश्व में प्रचलित हो रहे हैं इसलिए कुछ बातों में विविध राष्ट्रों के लोकचित्त भी समान होते जाते है। आज व्यक्तिगत चित्त और लोकचित्त दोनों को सुभावित करने की

आवश्यकता है। आज के युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जो जीवन के मूल्य और पुरुषार्थ के उद्देश्य तथा लक्ष्य निर्धारित होते हैं उन्हीं के अनुकूल चित्त को सुभावित करना चाहिए। एशिया के सब देश आज राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की भावना से प्रभावित हो रहे हैं। यही शक्तियाँ इन देशों के आचार-विचार को निश्चित करती हैं और आज इनका कार्य सर्वत्र देखा जाता है। किन्तु कुछ प्रतिगामी शक्तियाँ पुराने युग का प्रतिनिधि बनकर इन नवीन शक्तियों के विकास की गति को रोकती है और हमारे जीवन को अवरुद्ध करती है। यह शक्तियाँ युग-धर्म के विरुद्ध खड़ी हुई है और जीवनप्रवाह को अतीत की ओर लौटाना चाहती हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक सोते मे बन्द करना चाहती हैं और उसी को एक पुण्य तीर्थ कल्पित कर जीवन की अविच्छिन्न धारा से हमको पृथक् करना चाहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को इन शक्तियो को पहचानना चाहिए और उनका विरोध करना चाहिए। विज्ञान ने नई शक्तियों को उन्मुक्त किया है। उन्होंने मानव को एक नया स्वप्न दिया है और उसके सम्मुख नए आदर्श, नए प्रतीक और लक्ष्य रखे है। अन्तरराष्ट्रीय विज्ञान के आलोक मे समाज का कलेवर बदल रहा है, अन्तर्राष्ट्रीयता के नए साधन और उपकरण प्रस्तुत हो रहे हैं। एक भावना सकल विश्व को व्याप्त करना चाहती है और एक नए सामंजस्य की ओर संसार बढ़ रहा है। यह शक्तियाँ सफल होकर रहेंगी क्योंकि यह युग की माँग को पूरा करना चाहती है।

हमको यह न भूलना चाहिए कि जीवन के साथ-साथ सस्कृति बदलती रहती है। जीवन स्थिर और जड़ नहीं है। इसीलिए संस्कृति भी जड़ और स्थिर नही है। समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे परिवर्तन होते रहते है और साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन भी बदलता रहता है। हमारे देश में समय-समय पर अनेक जातियाँ बाहर से आयी और यहाँ के समाज में घुल-मिल गयी। वे अपने साथ आचार-विचार लायीं। उन्होंने यहाँ के आचार-विचार स्वीकार किये और अपने कुछ आचार-विचार हमको दिये। संस्पर्श से संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता रहता है। प्राचीनकाल में जब धर्म-मजहब समस्त जीवन को व्याप्त और प्रभावित करता था तब संस्कृति के बनाने में उसका भी हाथ था। किन्तु धर्म के अतिरिक्त अन्य भी कारण और हेतु सांस्कृतिक निर्माण में सहायक होते थे। किन्तु आज मजहब का प्रभाव बहुत कम हो गया है। अन्य विचार जैसे राष्ट्रीयता आदि उसका स्थान ले रहे है। अतः अब तो उसका मान बहुत कम हो गया है। राष्ट्रीयता की भावना तो मजहबों के ऊपर है। यदि ऐसा न होता तो एक देश मे रहने वाले विविध धर्मो के अनुयायी उसे कैसे अपनाते। विश्वव्यापी धर्म तो राष्ट्रीयता के विरोधी रहे हैं। वे देश, नस्ल और रंग की सीमाओं को पार कर चुके थे। इस्लाम पुराने काल में धर्म देश की भौगोलिक सीमाओं की अपेक्षा करता था

किन्तु आज उन्नतिशील इस्लामी देश राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं, किन्तु देश और नस्ल के आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं। रोमन कैथोलिक चर्च को छोड़कर ईसाई दुनिया का भी यही हाल है। राष्ट्रीय भावना के पुष्ट होने पर एशिया के पिछड़े देशों का भी यही हाल होगा। हमारे देश मे दुर्भाग्य से लोग संस्कृति को धर्म से अलग नहीं करते है। इसका कारण अज्ञान और हमारी सकीर्णता है। हम पर्याप्त मात्रा में जागरूक नहीं हैं। हमको नही मालूम है कि कौन-कौन-सी शक्तियाँ काम कर रही है, और इसका विवेचन भी हम ठीक नहीं कर पाते कि कौन-सा मार्ग है। इसी कारण हममे सुविवेक और साहस की कमी है और इसीलिए यह सुगम है कि अतीत का मार्ग ग्रहण करें। किन्तु हम भूल जाते हैं कि हम ऐसे युग मे रह रहे है जब क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, चारों ओर इसके स्पष्ट चिह्न दीख पडते हैं। समाज का पुराना सामंजस्य विनष्ट हो गया है, वह नए सामंजस्य, नए समन्वय की तलाश में है, ऐसे युग में हम केवल अतीत के सहारे कैसे चल सकते हैं। इतिहास बताता है कि वही देश पतनोन्मुख है जो युग धर्म की उपेक्षा करते हैं और परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हैं। इतने पर भी हम आँख नहीं खोलते।

परिवर्तन का यह अर्थ कदापि नही है कि अतीत की सर्वथा उपेक्षा की जावे। ऐसा हो भी नही सकता। अतीत के वह अंग जो उत्कृष्ट और जीवनप्रद हैं उनकी तो रक्षा करना ही है, किन्तु नए मूल्यों का हमको स्वागत करना होगा तथा वे आचार-विचार जो युग के लिए अनुपयुक्त और हानिकारक हैं, उनका परित्याग भी करना होगा।

राष्ट्रीयता की माँग है कि भारत में रहने वाले सभी मजहब के लोगो के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए और सदा एकरूपता लाने का प्रयास होना चाहिए। सांस्कृतिक दृष्टि भी आवश्यक है। जब ४ करोड़ मुसलमान हमारे देश के अधिवासी हैं तो उनका संस्पर्श आप बचा नही सकते। ऐसी अवस्था में एकरूपता के अभाव में तथा संकीर्ण बुद्धि से उनके साथ व्यवहार करने में सदा भय बना रहेगा और संघर्ष होता रहेगा। भेद-भाव की बुद्धि मिटाकर तथा एकरूपता के लिए उचित साधनों को एकत्रित करके ही इस भय को दूर कर सकते हैं। एक व्यापक और उदार बुद्धि से काम लेने से तथा कानून और आर्थिक पद्धति की समानता से धीरे-धीरे विभिन्नता दूर होगी और इस देश के सभी लोग समान रूप से इस देश की उन्नति में लगेगे।

'संस्कृति' का ठीक-ठीक अर्थ कर और उसके स्वरूप को समझकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा 'संस्कृति' के नाम पर बहुअनर्थ होगा और राष्ट्रीय एकता के काम में बाधा पड़ेगी।

भारतीय समाज और संस्कृति

आज साहित्य का मानदण्ड क्या हो---इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व जीवन और साहित्य का क्या सम्बन्ध है और जीवन को संचालित करने वाली कौन-सी शक्तियाँ हैं, इस पर विचार करना आवश्यक है। आज जनकल्याण, रक्षा, अर्थनीति--सभी कुछ राजसत्ता द्वारा संचालित होती है। पहले जो भी स्थिति रही हो, आज राजा (अर्थात् राजसत्ता) वास्तव में काल का कारण है। राजशास्त्र में सभी शास्त्र समा गये हैं। आज हम राजनीति से अलग नहीं रह सकते। हमारा आशय दलगत राजनीति से नहीं है। हमारा अभिप्राय तो उस उच्चकोटि की राजनीति से है जो जनजीवन की धारा में प्रवाहित होती रहती है और उसे बल प्रदान करती है। राजनीति की इस जीवन्त धारा से कोई भी विचारक या साहित्यस्रष्टा अलग नहीं रह सकता। आज हमारे सामाजिक जीवन में जो संकट जो अस्तव्यस्तता दिखायी दे रही है, क्या उससे कोई इनकार कर सकता है? क्या हमें उसका समाधान ढूँढ़ना नहीं चाहिए? अर्थनीति के बदलने पर राजनीति में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। १९वीं सदी मे, जब लोग सम्पन्न थे, यह सोचते थे कि विज्ञान से हमारी तरक्की हो सकती है; किन्तु आज इस विचार पर से आस्था उठ गयी है। आज लोग विज्ञान को कोसने लगे हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि विज्ञान की प्रगति के साथ अर्थनीति में जैसा परिवर्तन होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। सारे संकटों की जड़ में यही वास्तविकता है। पहले अर्थ-क्षेत्र मे व्यक्ति को विकास करने की स्वतन्त्रता देने के उद्देश्य से मुक्त व्यापार की नीति (लासेज फेयर) का अवलम्बन किया गया। किन्तु, वैज्ञानिक और यान्त्रिक विकास से धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि मुक्त व्यापार की नीति से सारा आर्थिक क्षेत्र कुछ लोगों की मुट्ठी में चला जा रहा है और शेष जनता गरीब और असहाय होती जा रही है। अब समाज में घोर आर्थिक विषमता उपस्थित हो गयी है। अतः सभी प्रकार के अर्थशास्त्री किसी-न-किसी रूप में नियोजन को स्वीकार करने लगे हैं। आर्थिक जीवन का यह संघर्ष सांस्कृतिक जीवन में भी प्रतिफलित हुआ है। आज की राजनीति में भी आर्थिक सांस्कृतिक समस्याएँ गुथ गयी हैं कौन ऐसा

साहित्यकार होगा जो चतुर्दिक व्याप्त इस संघर्ष, असन्तुलन और असामंजस्य से मुँह मोड़ सके? उसे इसका सामना करना ही होगा। संघर्ष को समाप्त कर सामंजस्य स्थापित करना जैसे सबका कर्तव्य है, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र मे साहित्यकार का भी यही परम कर्तव्य है।

व्यष्टि और समष्टि का समन्वय

साहित्य और समाज के सम्बन्ध को समझने के लिए व्यक्तिगत मानस और लोक-मानस दोनों पर विचार होना चाहिए। जो एकान्त जीवन व्यतीत कर रहा है, उसे मानव-भावना की क्या आवश्यकता है। उसमें प्रेम, आदर आदि मानवीय गुण नहीं आ सकते। मानवीय गुणो की सृष्टि समाज में ही होती है, और अन्ततः मानवीय भावनाएँ ही साहित्य की उपलब्धि हैं। इस प्रकार साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य का दूसरा पहलू यह है कि वह व्यक्तिगत प्रयत्न का परिणाम है। यहाँ व्यक्ति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। संसार में शुरू से ही दो प्रकार की विचारधाराएँ चलती रही हैं। एक के अनुसार व्यक्ति समाज के लिए है और दूसरे के अनुसार समाज व्यक्ति के लिए है। असल मे इन दोनो विचारधाराओं में सन्तुलन होना चाहिए। इसी सन्तुलन से ही मानवता का कल्याण सम्भव है। सामाजिक नियमों का प्रतिपालन किये बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता और व्यक्ति की महत्ता को मिटाकर समाज भी समृद्ध नही हो सकता। राम, कृष्ण, गाधी, प्लेटो, न्यूटन, विवेकानन्द जैसे व्यक्तियों को मिटाकर क्या समाज विकास कर सकता है? समाज के विकास के लिए विभूति से सुशोभित मानव चाहिए। यह अवश्य है कि किसी में शरीर और किसी मे प्रतिभा की शक्ति होगी। दोनों प्रकार की शक्तियों का सम्मान होना चाहिए। इन दोनों के सहयोग से ही समाज की स्वस्थ रचना हो सकती है। ऐसे वातावरण का निर्माण होना चाहिए जिसमें इन दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास हो सके। किसी भी हालत मे आत्माभिव्यक्ति का दमन न होना चाहिए। इससे समाज नष्ट हो जायगा। साहित्य सजग आत्माभि-व्यक्ति का ही दूसरा नाम है।

विज्ञान का उपयोग आवश्यक

विचारों के संघर्ष से ही नवीन विचार पल्लवित होते हैं और सत्य का पता चलता है। मनुष्य ने धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय प्राप्त की। एक प्रकार से विज्ञान का जयघोष हुआ। नये विचारों से और विज्ञान की इस जययात्रा से मानव-कल्याण तभी सम्भव है जब व्यक्ति मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करे। यदि उनके कार्यों के पीछे करुणा की, मैत्री की भावना न होगी तो वह ध्वंस में ही लगेगा। आज मानव विकास की उस अवस्था पर पहुँच गया है जहाँ वह उच्च-से-

उज्ज्वलतर और उत्कृष्ट होता जायेगा। मानव की आत्मा के विकास के लिए इस बात की परख होनी चाहिए कि उसके प्रयत्नों से समाज कहाँ तक सुसंस्कृत और सभ्य बना है। अधिकाधिक ऐसे मानवों को जन्म देना हमारा प्रधान कर्तव्य है जिनसे मानवता सुसंस्कृत बने। इसके लिए व्यक्तिगत प्रतिभाओं को विकास का अनुकूल वातावरण मिलना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अब तक राष्ट्र दरिद्र है, उसमें वर्ग विषमता का विष व्याप्त है; ऐसे वातावरण का निर्माण कैसे हो सकता है? मनुष्य ने विज्ञान का जो विकास किया है उसका लाभ उठाकर इस विषमता को दूर किया जा सकता है। प्राविधिक ज्ञान और औद्योगिक विकास को सुनियोजित कर हम समता और समृद्धि का युग ला सकते हैं। समता का यह तात्पर्य नहीं कि सारा जनसमाज सम हो जाएगा, एक-सा हो जाएगा। ऐसा साम्य तो प्रलय है। समता का वास्तविक अर्थ हर व्यक्ति के लिए ऐसे समान अनुकूल वातावरण का निर्माण करना है जिसमें वह अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक क्षमता का पूर्णतया विकास कर सके। उसे अपना सर्वांगीण विकास करने में किसी प्रकार की बाधा न हो। राष्ट्र का वातावरण ऐसा हो जिसमें पापी-से-पापी का भी सुधार हो सके। हम सबको समान प्रतिभाशाली नहीं बना सकते, किन्तु जो प्रतिभाएँ आज प्रतिकूल परिस्थितियों मे पड़कर मर रही है, उन्हें जिला सकते है, उन्हें पनपने का मौका दे सकते हैं। दरिद्रता का अभिशाप दूर कर हम लाखों-करोड़ो आदमियो को सुसंस्कृत बना सकते है। इससे हमारा राष्ट्र आगे बढ़ेगा।

पश्चिम की महत्त्वपूर्ण देन

कोई भी विचारक समाज के निरन्तर विकास की उपेक्षा नही कर सकता। मानव-समाज आदिम युग से बराबर प्रगति कर रहा है। इस प्रगति में बराबर समय-समय पर नये-नये आध्यात्मिक मूल्यों की सृष्टि हुई है। पूर्व में विकास की अपनी परम्परा रही है, किन्तु पश्चिम ने जो कुछ किया है उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। कोई भी सजग चिन्तक पश्चिम की देन को अस्वीकार नही कर सकता। विज्ञान के क्षेत्र में—भाषण, लेखन और संघटन के क्षेत्र मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए पश्चिम के लोगों ने जो संघर्ष किया है वह मानवता के इतिहास मे अभूत-पूर्व है। उससे मानव-चेतना का जैसा प्रसार हुआ है—जिन नये मूल्यों की सृष्टि हुई है—भारतीय साहित्यकार की प्रतिभा उससे प्रणोदित हुए बिना नही रह सकती।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र को देखने से पता लगेगा कि मानव-समाज आरम्भिक युगो से कितना आगे बढ़ा है। उसमें निखिल विश्व के मानव-समाज के मूलभूत अधिकारों की रक्षा का जैसा आश्वासन दिया है वह उसके पूर्व सम्भव

न था। उसमें पहली बार मानव-समाज के संघटन और प्रगति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हुई है। यह दूसरी बात है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का खतरा बना हुआ है, किन्तु इससे राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र का ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता। सारे संसार का मानव-समाज एक ही है—विश्व के राष्ट्रों द्वारा इसकी घोषणा से मानवता के एक नये युग का आरम्भ हो गया है। अब मनुष्य इसके पीछे नहीं लौट सकता।

नये मानव-समाज की समस्त उदीयमान शक्तियों के पीछे राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में उद्बोधित मानवमात्र के ऐक्य की भावना की प्रेरणा है। वे उदीयमान शक्तियाँ हमारे युग की देवशक्तियाँ हैं। इनसे लड़ने वाली आसुरी शक्तियाँ भी मौजूद है, किन्तु देवशक्तियों की विजय ध्रुव है। हमारे साहित्य में इन्हीं देवशक्तियों का तेज व्यक्त होना चाहिए। आज का साहित्यकार अतिराष्ट्रीयतावाद, वर्गवैषम्य, सामाजिक ऊँच-नीच की भावना, धार्मिक और साम्प्रदायिक संकीर्णता का कट्टर शत्रु है। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने की नयी उत्सुकता जग चुकी है। उसके सामने नये मानव-समाज का स्वप्न है। उसे मूर्तरूप देने तथा व्यक्तिगत और सामाजिक आचार-विचार में नये मानव की प्रवृत्तियों को साकार करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि नये मानव का यह स्वप्न पश्चिम के विज्ञान और प्राविधिक प्रगति के कारण ही सम्भव हो सका है। पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति को अपनाकर भी क्या हम दो सौ वर्ष पूर्व के वही पुराणपन्थी बने रह सकते हैं ?

भारतीय संस्कृति की विशेषता

हमे नये जीवन के लिए नये उद्देश्य स्थिर करने होगे। हमारे देश की बहुत ऊँची संस्कृति रही है। हमारी संस्कृति मे वे सभी तत्त्व मौजूद है जिनसे हम नवयुग और नव मानव का निर्माण कर सकते है। हमारी संस्कृति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी संस्कृतियाँ है, किन्तु उनमें एकतानता है। इसी प्रकार धर्म के भी अनेक स्वरूप हैं—सनातन, आर्य, जैन और बौद्ध। इनमें उपासना का भेद है, उत्सव-पर्व और साधना का भेद है, किन्तु इस भेद के होते हुए भी कुछ मुख्य बातों में अद्भुत एकतानता और समरसता मिलती है। वैविध्य और वैभिन्य में एकता का जो सूत्र है वह हमें सदा से अनुप्राणित करता रहा है। हमने जीवन में इतने प्रयोग किये हैं कि पश्चिम के प्रयोग से हमें लाभ ही होगा, किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती। हम पश्चिम के उच्च तत्त्वों को अपनी संस्कृति में सहज ही आत्मसात कर सकते हैं। आदान-प्रदान से ही संस्कृतियाँ पुष्ट और ऐश्वर्यमय हुआ करती हैं। हमें आदान-प्रदान

का द्वार बन्द न करना चाहिए।

भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना है। जीवन के सफल संचालन और स्वस्थ विकास के लिए एक-न-एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था आवश्यक है। कर्मफल में विश्वास प्रकट कर मानवीय कर्म को सहज ही महान लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्रतिष्ठा हुई है। मोक्ष को हमारे यहाँ सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष से तात्पर्य मनुष्य की आध्यात्मिक और बौद्धिक मुक्ति से है। योग के बिना कोई मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। योग से तात्पर्य मन की समाहित अवस्था और प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण से है। हमारे यहाँ के सभी सम्प्रदाय, चाहे वे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, इस विचारसरणि पर एकमत है। उन सबका गन्तव्य एक ही है—मानव की मुक्ति। कर्मफल की वासना न रखते हुए और शुभ कर्म करते हुए मोक्ष की ओर निरन्तर बढ़ते जाना यही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है।

हमें यह न भूलना चाहिए कि विभिन्न धर्मों के योग से ही विशाल भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म को नास्तिक कहकर उसकी उपेक्षा करने की वृत्ति हमे छोड़नी पड़ेगी। यूरोपीय संस्कृति, यूनानी कला और साहित्य तथा रोमन-विधानों से बनी है। यूनानी और रोमन संस्कृति पर भी भारतीय संस्कृति की छाप पड़ी है। स्वतन्त्र भारत में प्राचीन भारत की खोज होनी चाहिए। इस खोज से हमें पता चलेगा कि एशियाई महाद्वीप में हमने अपने विचारों को फैलाया था—राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया था। यह हमारा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य है, हमारी अमूल्य सम्पदा है। यदि हम इस सम्पदा के सच्चे उत्तराधिकारी बनना चाहते हैं तो हमे अपने सांस्कृतिक गुणों को कायम रखने के लिए लगन और निष्ठा से अध्यवसाय करना होगा।

अतीत के प्रति मोह होना चाहिए, आदर होना चाहिए, किन्तु अन्धविश्वास नही होना चाहिए। आज के युग में जो किसी प्रकार की संकीर्णता से आबद्ध रहना चाहता है वह आज के संसार का नागरिक होने के अयोग्य है। हमारी संस्कृति का एक बड़ा सन्देश आचरण की शुद्धता है। किसी देश में काव्य, शास्त्र, दर्शन का बहुत प्रचार होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ के लोगों का पारस्परिक आचरण भी शुद्ध हो। अपना ख्याल रखते हुए दूसरों का भी ख्याल रखना संस्कृति का मूल है। मनुष्य एक-दूसरे के साथ की खोज में बड़े-बड़े संघटन बनाने की ओर प्रवृत्त हुआ। भोजन और विवाह बहुत जरूरी चीजें है। इसके लिए दूसरों से सम्पर्क स्थापित करना होता है और इस प्रकार समाज की रचना होती है दूसरो के सुख-दुःख का ध्यान रखे बिना मानव-समाज ही नष्ट हो

जाएगा। इसीलिए हमारे यहाँ कहा गया है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। यह सामाजिकता का और मानवता का मूल मन्त्र है। यदि हम दूसरो का दोष देखने की आदत छोड़ दें तो हमे अपने दोष दिखायी देने लगेंगे और हम अपना सुधार कर सकेंगे। इस प्रकार से सारे समाज का सुधार हो जाएगा। इसीलिए हमारी संस्कृति मे आत्म-निरीक्षण पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है।

हमारा कर्तव्य : आश्रय की परावृत्ति

भारतीय संस्कृति की इस पृष्ठभूमि में ही हम भारत के साहित्यकारों का कर्तव्य निर्धारित कर सकते हैं। दृढ संकल्प और विशाल हृदय से ही भारत में नये मानव का जन्म होगा। नये मानव का जन्म होने पर हमारे आश्रय की परावृत्ति (चित्तवृत्तियों का उत्तोलन, सब्लिमेशन) होगी, भारत का कायाकल्प होगा। नये मानवों के लिए ही नया भारत बना है। सत् साहित्य ने हमेशा से ही आश्रय की परावृत्ति का महान् उत्तरदायित्व वहन किया है, भविष्य मे भी उसे इसका भार वहन करना होगा।

—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी मे दिया गया भाषण (१६५३)

वसुधैव कुटुम्बकम्

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

—अर्थात् यह मेरा है, यह पराया है, यह विचार लघु चित्त के लोगों का होता है किन्तु जो उदारचरित हैं वे सकल जगत् को कुटुम्बवत् मानते है। ये विचार कितने उदात्त और उदार है। इतिहास बताता है कि मानव का विकास इसी दिशा में हो रहा है। कबीले, बिरादरी, जाति और धर्म और राष्ट्र के स्तरों से गुजरकर अन्तर्राष्ट्रीय समाज के युग में हम प्रवेश कर रहे हैं। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वह सब साधन एकत्र हो रहे है, सारा ससार एक सूत्र में ग्रथित हो रहा है। आज की उथल-पुथल, आज का संघर्ष, आज का सांस्कृतिक और आर्थिक संकट, सभी एक नये समाज की सूचना देते है। आज की अनिश्चित अवस्था बहुत समय तक नही रह सकती, संसार एक नये सामंजस्य, एक नये सन्तुलन तथा समन्वय की ओर बढ रहा है। हम सन्धि काल में रह रहे है, इसी कारण आज सन्देह, अविश्वास, दुचित्तापन पाया जाता है और कर्तव्याकर्तव्य के विनिश्चय में कठिनाई होती है। अतीत धीरे-धीरे धुंधला पड़ता जाता है और वर्तमान के गर्भ से भविष्य का आविर्भाव हो रहा है। आज की मानव वेदना तथा पीड़ा प्रसव वेदना के समान है। बिना इसके दूसरे युग में संक्रमण नही हो सकता।

आज सारे संसार को एक सूत्र में ग्रथित करने के भौतिक साधन विपुल हैं, विज्ञान ने इन्हें सुलभ किया है। किन्तु जब तक मानव अपनी संकीर्णता का परित्याग नही करता, अपनी क्षुद्र गतियों और सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता, ससीम से असीम की ओर नही जाता, तब तक वह इन साधनों का समुचित उपयोग नही कर सकता। आज की सबसे बड़ी समस्या यही है। संसार को एक करने के साधन विद्यमान हैं किन्तु मानव हृदय और मस्तिष्क अभी तैयार नहीं है। अति-राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद और जातिवाद के कारण मनुष्य का मस्तिष्क एकदेशीय हो रहा है और इसी कारण राष्ट्र-राष्ट्र के बीच घृणा और विद्वेष फैला है। जिस यन्त्र की मनुष्य ने सृष्टि की वही उसको अभिभूत कर रहा है। मनुष्य ने विज्ञान

द्वारा सबको अनुप्राणित किया और उसको सक्रिय बनाया, किन्तु उसकी विपुलता ने उसके हृदय और मस्तिष्क को मानो दबा दिया है। वह अपनी कृतियों को आत्मसात नहीं कर पाता है और अपने में सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। यही आज का सांस्कृतिक संकट है किन्तु यह भी निर्विवाद है कि इस संकट का भी अन्त होगा।

शुष्क विज्ञान बिना मानवीय मूल्यों की सहायता के समाज का कल्याण नहीं कर सकता। विज्ञान का उपयोग मंगल और कल्याण के लिए भी हो सकता है तथा नरसंहार और संस्कृति के विनाश के लिए भी हो सकता है। **यह सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं जो मनुष्य को हित-अहित का ज्ञान कराते हैं और किसी निर्णय और विनिश्चय के करने में समर्थ बनाते हैं।** विज्ञान सार्थक तभी हो सकता है जब विज्ञानवेत्ता और उसका उपयोग करने वाले उच्च सामाजिक आदर्शों से प्रेरित हों। इसीलिए शिक्षाशास्त्रियों का मत है कि विज्ञान के साथ-साथ साहित्य, दर्शन आदि की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। बिना इस आधार के, बिना इस पृष्ठभूमि के विज्ञान का दुरुपयोग होता है।

हमारी पुरानी संस्कृतियों में सर्वभूतहितरत की बात बार-बार आती है। हम चराचर जगत् को एक ही शक्ति से व्याप्त मानते हैं। ब्रह्माण्ड पर्यन्त एक ही अव्यय शक्ति का हम दर्शन करते हैं। हमारे मंगल वाक्य प्राणिमात्र के कल्याण की शुभ भावना करते हैं। तर्पण के मन्त्र इतने सुन्दर हैं कि वह सकल चराचर जगत् के संतर्पण के लिए प्रार्थना करते हैं। अद्वेष, मैत्री और करुणा योग की ऊँची भूमियाँ हैं। गीता में समत्व योग की शिक्षा दी गयी है। सब भूतों में एक अव्यय भाव को देखना और विभक्त में अविभक्त को देखना सात्त्विक ज्ञान बताया गया है। गीता में कहा है कि जो ज्ञान एक में सक्त है वह तामसिक है। उपनिषद् में कहा है कि जिस ज्ञान में सब चराचर जगत् एकता देखने वाले पुरुष को आत्मा ही प्रतीत होता है, उस ज्ञान में मोह और शोक कहाँ है?

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

ईशोपनिषद् हमारे मानव का मानव दृष्टि से आदर करना सिखाता है। इसमें देश, जाति, वर्ण और लिंग का विचार नहीं होना चाहिए। इसलिए उपनिषदों में कहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। किन्तु इस शिक्षा को हमने भुला दिया है। समत्व का भाव भी लुप्त हो गया है। हमारा सामाजिक संगठन समत्व के आधार पर नहीं आश्रित है। इसमें जाति का तारतम्य है। वर्ण-व्यवस्था का पुराना आकार नष्ट हो गया है। हम अपनी समाज-व्यवस्था की यथावत् रक्षा करते हुए दूसरे जातियों के साथ समता का भाव रखते थे, किन्तु आज राष्ट्रीयता का युग है और उसने इस भाव को भी दुर्बल करना आरम्भ कर दिया है। प्राचीन काल में जब

आधुनिक राष्ट्रीयता न थी, तब हमारे पूर्वजों ने विविध धर्म में यथा कुल-धर्म वर्ण-धर्म, क्षेत्र-धर्म, देश-धर्म आदि में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की थी। आज समय बदल गया है। समाज के पुराने आधार और उद्देश्य खोखले पड़ते जाते हैं और समाज का एक नया रूप प्रकट हो रहा है। हमारी आवश्यकताएँ बदल गयी हैं और उनके साथ-साथ हमारे विचार और हमारी आकांक्षाओं में भी परिवर्तन हो रहा है। साथ-साथ नये मूल्यों का भी आविर्भाव हो रहा है। अतः एक नये सामंजस्य की बड़ी आवश्यकता है। आज हमको राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में समन्वय करना है। इसके बिना शान्ति की स्थापना असम्भव है। इस सम्बन्ध में विश्व कुटुम्ब की बात याद आती है। प्राचीन काल में यह एक भाव मात्र था। इसकी पूर्ति के लिए साधन न थे। यातायात के साधनों की कमी के कारण देशों के पारस्परिक सम्बन्ध सर्वत्र नहीं हो सकते थे और जो थे भी वह दृढ़ न थे। ऐसी आचार-विचार की विविधता का होना स्वाभाविक था। अतः ऊँचे दर्जे की अवस्थाओं में बन सकता था और इसीलिए यह हमारे नैतिक जीवन का पथ नहीं बन सकता था। आज हम धीरे-धीरे राष्ट्रीयता तक पहुँच गये हैं। एक दृष्टि से देखें तो हम बहुत आगे बढ़ गये हैं। पुराने कबीलों और सम्प्रदायों की मनोवृत्ति को छोड़कर हमारी मनोवृत्ति राष्ट्रवादी हो गयी है। एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोगों को हम अपना समझते हैं।

इसकी दूसरी दिशा यह है कि अन्य देशों के वासियों को हम पराया समझते हैं। उन देशों में कुछ हमारे लिए मित्र, कुछ शत्रु और कुछ उदासीन हैं। इस राष्ट्रवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया है और इसी कारण यह राग-द्वेष चल रहा है। जब तक समानता, सामाजिक न्याय और भ्रातृत्व के आधार पर एक नये समाज का संगठन न होगा, जब तक परस्पर के विद्वेष के कारण दूर न किये जावेंगे, तब तक विश्व कुटुम्ब की प्रतिष्ठा न हो सकेगी। यह समानता आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक है। इसको दूर करने के लिए उदारचेता व्यक्तियों की आवश्यकता है। जिनकी दृष्टि व्यापक हो और जो समदर्शी हों, वही नव समाज का उपक्रम करेंगे और कल्याणकारी आन्दोलन की सृष्टि करेंगे। यही युग की माँग है और इसी कारण सब देशों में ऐसे लोग पाये जाते हैं, जिन्होंने इस आदर्श को अपनाया है और जो इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए यत्नशील हैं। तरह-तरह के आन्दोलन संसार में चल रहे हैं। कोई केवल नैतिक बल के आधार पर संसार को बदलना चाहता है, कोई शिक्षा के आधार पर लक्ष्य की प्राप्ति की आशा रखता है, कोई केवल सामाजिक परिस्थिति को बदलकर अर्थात् समाज के आर्थिक संगठन को बदलकर तथा शोषण के सब द्वारों को बन्द कर सफल होने की आशा प्रकट करता है। सबमें कुछ-न-कुछ सत्य का अंश है और यद्यपि मुख्य बात आर्थिक पद्धति के बदलने की है तथापि जब तक सब अस्त्रों का प्रयोग न होगा सफलता

नहीं मिलेगी। यह सच है कि सामाजिक व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा का भी बड़ा महत्त्व है। विश्वकुटुम्ब की भावना का आधार विश्वबन्धुत्व है। जिस प्रकार एक कुटुम्ब के सब सदस्यों का समान स्थान है और उनमें भाईचारा पाया जाता है और वहाँ पर विचार नहीं होता कि प्रत्येक अपनी-अपनी निजी कमाई के अनुसार ही पावे उसी प्रकार विश्व कुटुम्ब में छोटे-बड़े राष्ट्रों में भेदभाव नही होगा, दुर्बल को सबल बनाने का प्रयत्न होगा और सकल सम्पत्ति किसी की अपनी न होकर सबकी समान रूप से होगी। यह एक नया सांस्कृतिक भाव है और यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो यह एक विश्वव्यापी विराट् सांस्कृतिक आन्दोलन है। इसके मूल में नये सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य पाये जाते है। पहले इस प्रयोग को किसी एक देश को सफल करके दिखाना चाहिए। तभी यह विश्वव्यापी रूप ले सकता है। पूर्वकाल में विश्वबन्धुत्व का भाव अशरीरी था। केवल व्यक्ति ही इसको अपना सकते थे। किन्तु इसको समाज में स्थूल रूप नही मिल पाता था। आज इस भाव को शरीर मिला है और वह साकार होकर समाज में उतर रहा है। किन्तु उसके मार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएँ है।

जिस मात्रा में सामाजिक अवस्थाएँ और पद्धतियाँ बदलती है, उसी अनुपात में मानव नहीं बदलता। मानव परिवर्तन से घबराता है। उसके पुराने संस्कार और विचार सुगमता से नही बदलते। इसलिए नयी परिस्थिति के अनुकूल अपने को बार-बार बदलने मे मनुष्य को कठिनाई प्रतीत होती है। यद्यपि पुराने विचार जीर्ण-शीर्ण तथा निरर्थक हो गये हों, तथापि वे बहुत समय तक अपना प्रभाव जमाये रहते हैं और इसी कारण स्थिति के अनुकूल होते हुए भी परिवर्तन नही हो पाता। संसार की गतिविधि को देखकर मनुष्य आज आश्वस्त नही है। उसमें आन्तरिक मनोवैज्ञानिक स्थिरता नहीं है। वह आज स्थान की खोज में है। समाज की कर्कशता और कठोरता उसको किसी नये लक्ष्य की खोज के लिए विवश करती है। वह नये ज्ञान का अन्वेषण कर रहा है। सन्तप्त होने के कारण वह मजबूर हो जाता है और उसको दिशा-विभ्रम हो जाता है। अनेक पन्थ उसको अपनी ओर आकृष्ट करते है। कभी वह सुलभ लाभ के लोभ में फँस जाता है और जीवन से पराङ्मुख होकर व्यामोह को प्राप्त हो वस्तुस्थिति से पलायन करता है और अतीत की शरण मे आ जाता है। वह यह भूल जाता है कि अतीत अपने पूर्व-रूप मे वापस नहीं आ सकता किन्तु अपरिचित भविष्य का भय उसको घेरे रहता है और उसे अकर्मण्य बना देता है। पन्थ भी अनेक हैं। इनके कई विभाग किये जा सकते हैं। इनमें कुछ परिवर्तन का विरोध करते हैं। कुछ सामान्य परिवर्तन के पक्ष में होते हुए भी मौलिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। इनका विचार है कि सामान्य परिवर्तन करने से ही असंगतियाँ दूर हो सकती हैं। दूसरे वह है जो मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। विरोध इतना प्रबल होता जाता है

कि बीच की श्रेणी विलुप्त होती जाती है। धीरे-धीरे दो विचार एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े होते जाते हैं। एक परिवर्तन विरोधी और दूसरे मौलिक परिवर्तन के समर्थक। हमारे देश में यह अवस्था अभी उत्पन्न नहीं हुई है। किन्तु आगे चलकर यहाँ भी हो जावेगी। यह इस बात की सूचना देता है कि उन लोगों की कमी होती जाती है जो थोड़े-से परिवर्तन से सन्तुष्ट हैं। इंग्लैण्ड के उदार दल का गायब हो जाना इसका अच्छा उदाहरण है। जब बीच की वृत्ति क्षीण हो जाती है तब संघर्ष और भी तीव्र हो जाता है और दो प्रधान पक्षों में सुलह की आशा दूर हो जाती है।

जो लोग जागरूक है, वह परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार करते है। यह परिवर्तन किस रूप में हो और उसके उपस्थित करने के क्या साधन और उपाय है इस पर विचार किया गया है। इसमें सन्देह नही कि विना किसी सामाजिक दर्शन के दिशा स्थिर नहीं हो सकती। एक सुव्यवस्थित और सुगठित दार्शनिक पद्धति की आवश्यकता है जिसके आलोक में प्रत्येक समस्या का अनुसन्धान किया जा सके। परिवर्तन का रूप वही स्थिर करेगा और आज के युग के उपलब्ध प्रभावशाली साधनों से काम लेना होगा। पुराने विश्वकुटुम्ब के भाव का गम्भीर दार्शनिक आधार था। वह केवल कोई नैतिक उपदेश न था। आत्मोतम्य के सिद्धान्त पर यह आश्रित था। ईशोपनिषद् मे कहा है कि जो सब प्राणियों को अपने में देखता है और अपने को सब प्राणियों में देखता है वह विजिगुप्सा नहीं करता। इसके लिए समत्व योग की साधना बनाई गयी थी। अभ्यास के बिना यह सम्भव न था। नये विचार का प्रतिनिधित्व करने वालों को इस साधना की आवश्यकता है किन्तु विश्व को वस्तुत. एक कुटुम्ब मे परिवर्तित करने के लिए भिन्न उपायों की आवश्यकता है जिसमें बहुसंख्यक लोग सहयोग देंगे। पुरानी साधना व्यक्तिगत साधना थी। नवीन साधना दूसरे ढंग की है। इस नवीन साधना में भाव के साथ-साथ सद्विवेक और साहस की भी आवश्यकता है। उदार भाव तो मूल-भित्ति मात्र है किन्तु इसके आधार पर जो प्रासाद निर्मित होगा उसके लिए विपुल सामग्री चाहिए। हमारा ज्ञान व्यापक और उत्कृष्ट होना चाहिए जो आज की आवश्यकताओं को समझे और जिसकी अग्नि में सकल संकुचित और संकीर्ण भाव तथा क्षुद्र स्वार्थ, ईर्ष्या और द्वेष विनष्ट हो जाये। इस नये समाज का उपक्रम करने वाले विद्याचरण सम्पन्न होगे, उनमें कुशलोत्साह होगा, मानव मात्र के प्रति उनका स्नेह होगा। वह प्रत्येक मानव के व्यक्तित्व के लिए आदर भाव रखेंगे।

भवभूति के इस वाक्य को वह सार्थक करेंगे—

गुणा पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

उनका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक मनुष्य को आत्मविकास का पूरा अवसर मिले। समाज से शोषण का तथा युद्ध का अन्त हो

इस कार्य के सम्पन्न होने में विलम्ब हो रहा है। कार्य अति दुष्कर है। उद्देश्य जितना महान है उसी के अनुरूप साधन भी चाहिए। सामान्य जन में नयी चेतना जगाना है और शिक्षितों को पुनः शिक्षित करना है। विद्यालयों की शिक्षा को नया रूप देना है। उसके उद्देश्यों को युग के अनुरूप बनाना है, त्याग और तपस्या की भावना को सुदृढ़ करना है। एक ऐसा व्यापक संगठन बनाना है जो नये उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्न करे। आधुनिक शास्त्र और प्रकार का पूरा उपयोग करना है किन्तु जब तक विश्वबन्धुत्व की भावना प्रबल नहीं होती तब तक कार्य सिद्ध नहीं होगा। यह उदात्त भाव ही नये समाज की अन्तरात्मा है, उसका सार और हृदय है।

धार्मिक आन्दोलनों में एकता का आधार*

भारत में इतिहास के आरम्भ से ही विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग बाहर से आकर बसते रहे हैं। वे भारतीय समाज में घुलमिलकर एक हो गये। यहाँ का धर्म उनके बहुत-से रीति-रिवाजों और विचारों को आत्मसात करता रहा। विभिन्न समुदाय जीवन-व्यापार और रीति-रिवाजों में भिन्नता रखते हुए भी मेलजोल के साथ रहते थे। वस्तुत: भारतीय इतिहासमें धार्मिक झगड़ों का अभाव-सा है। इतिहास के लम्बे काल में भारतीय समाज ने अनेकता में एकता का दर्शन किया है। विंसेंट स्मिथ के शब्दों में "यह एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार और सम्प्रदाय आदि की अगणित विभिन्नताओं के ऊपर प्रतिष्ठित है।" इस आश्चर्यजनक प्राप्ति का श्रेय हिन्दू धर्म की भावना को है। हिन्दू धर्म किसी विशिष्ट विश्वास पर केन्द्रित नहीं है। यह अपने जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति को दूसरों पर बरबस लादने में विश्वास नहीं करता। इसमे यह भी नहीं माना जाता कि इसके द्वारा प्रतिपादित मार्ग ही जीवन का एकमात्र सच्चा मार्ग है। इसमें माना जाता है कि सुझाव और स्वभाव की विशिष्टता के कारण लोग विभिन्न सीधे और टेढ़े मार्गों का अनुसरण करते हैं, परन्तु सबका उद्देश्य-स्थान एक ही होता है। सच्चाई का प्रकाश अनेक रूपों मे प्रकट होता है, अत. किसी एक धर्म को अपने को सच्चाई का एकाधिकारी कहने का अधिकार नहीं है। सम्भवत: हिन्दू धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो यह विश्वास करता है कि अन्य धर्मों के अनुयायियों को भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। आम तौर पर, एक सत्ता में विश्वास करने वाले धर्म झगड़ालू और संघर्षशील होते हैं और धर्म-युद्ध में विश्वास करते हैं। किन्तु हिन्दू धर्म वेदान्त दर्शन 'समस्त जगत् ब्रह्ममय है'—मे विश्वास करता है और इस कारण अन्य धार्मिक विश्वासों के प्रति असहिष्णु न होकर उदार है। धर्म-युद्ध का विचार ही हिन्दू धर्म में नहीं है। एक ईश्वर में विश्वास रखने वाले धर्म भी भारत मे हिन्दू धर्म की उदार भावना से प्रभावित रहे हैं। भारत में इसलाम धर्म पर भी हिन्दू संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ा। मुसलिम दरवेश और

---

* जनवाणी- जनवरी- १९५१

उलेमा कुछ भी विश्वास करें और कुछ भी शिक्षा दें, किन्तु भारत में मुस्लिम जनता का यही विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बाप-दादा के धर्म का अवलम्बन करना चाहिए। उनमें धार्मिक कट्टरपन का अन्धा जोश नहीं मिलता। इसका एक कारण यह भी है कि उनमे से एक भारी संख्या ने हिन्दू समाज की जाति-व्यवस्था के पीड़न से बचने के लिए और हिन्दू समाज की पतनोन्मुख अवस्था के कारण इसलाम धर्म कबूल किया है। इसलाम के धार्मिक सिद्धान्तों में आसक्ति के कारण भारत में इसलाम मुख्यत: तलवार से नहीं फैला। ऐसा सोचना गलत है। हाँ, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि धर्म-परिवर्तन के लिए तलवार का भी इस्तेमाल किया गया और मुख्यत: आरम्भिक काल में परन्तु धर्म-परिवर्तन करने वालों में, भारी संख्या उन लोगों की है जिन्होंने हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के पीड़न से बचने के लिए खुशी से इसलाम कबूल किया। भारत में इसलाम और ईसाई धर्मों की धार्मिक आस्था का जनता पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार निस्सन्देह ही हिन्दू धर्म की उदार भावना के कारण ही भारत सांस्कृतिक एकता हासिल करने में सफल हुआ। इसकी विशिष्टताओं की व्यवस्था करना कठिन है। इसके विषय में हम अधिक से अधिक यही कह सकते है कि यह कोई विशिष्ट मतवादिक विश्वास नही है और न इसका दृष्टिकोण मतविशेष से संकुचित हुआ। इसका दृष्टिकोण अति व्यापक है और इसलिए रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड की भिन्नता के प्रति सहिष्णु है। यह बाह्य रूपों को अधिक महत्त्व नहीं देता और मनुष्य के अन्तर में प्रतिष्ठित होता है। यह विभिन्न धर्मों को ईश्वर तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग समझता है। यही ईश्वर वास्तविक सत्ता है और विभिन्न ऋषि-मुनियो ने उसी को भिन्न-भिन्न नाम दिये है। स्वभाव से यह रहस्यात्मक है और हमारी पकड़ से निकल जाता है। सभी धर्मों के रहस्यवादी एक ही प्रकार के होते हैं। रहस्यवादियों की आत्मा-परमात्मा विषयक विद्या यद्यपि एक ही प्रकार की नही होती परन्तु उनका अनुभव उन्हें सदा उसी जगत् में पहुँचाता है जिसमें युग-युग से सभी रहस्यवादी पहुँचे और जिससे इधर-उधर होना उनके लिए असम्भव हो जाता है। रहस्यात्मक अनुभव विशिष्ट विश्वासों और मत-मतान्तरों के ऊपर होता है। हिन्दू धर्म की ऐसी ही कुछ खासियत है। यह धर्म सभी मत-मतान्तरों और मतवादों से ऊपर है और इसी कारण विभिन्न विश्वासो और पूजन-पद्धतियों को मिलाये हुए है। यह जिन सच्चाइयों की घोषणा करता है वे इसे रहस्यात्मक अनुभव से प्राप्त हुई है, जो एक ही सच्चाई को सब जगह देखता है। भारत में जितने भी विश्वासो और मतों ने जन्म लिया है उन सभी का इससे उद्धार हुआ है, और उन्होंने सभी के प्रति उदारता और मैत्री प्रदर्शित की है। बौद्धमत इसी गुण के कारण दूर-दूर तक फैला और आज मानव जाति का पंचम अंश उसका अनुयायी है। विभिन्न मतावलम्बियों के सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण

बनाने के उद्देश्य से ही विष्णु और बुद्ध को शिव के व्यक्तित्व से अभिन्न करने के प्रयत्न किये गये। हिन्दू धर्म शुद्धि में भी विश्वास नहीं करता। इसका एक कारण इसकी व्यापक उदारता है। हिन्दू धर्म का विश्वास है कि बाह्यावरण किसी भी मत का क्यों न हो, आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है। यही कारण है कि हिन्दू साधुओं ने अपने मुसलिम और ईसाई अनुयायियों को आध्यात्मिक साधन की दीक्षा देने पर भी उनके धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायी।

हिन्दू धर्म की सहिष्णुता की इस भावना का ही परिणाम था कि मुसीबत के मारे यहूदियों और पारसियों को भारत में आश्रय मिला, जहाँ वे अपने विश्वास और रीति-रिवाजों के अनुसार जीवन व्यतीत कर सकते थे। बाहर से आये हुए धर्म भी हिन्दू धर्म की इस उदार भावना के शक्तिशाली प्रभाव से अछूते न रहे। यह भावना भारतीय वातावरण में समा गयी थी और कोई भी धर्म अधिक समय तक इसके असर की अवहेलना नहीं कर सकता था। यह परम्परा अशोक ने प्रतिष्ठित की थी। उसने प्रजा की जानकारी के लिए शिक्षाएँ शिलाओं और स्तूपों पर अंकित करा दी थी। उसके उद्देश्यों का एक मर्म धार्मिक सहिष्णुता थी। वह सब धर्मों का समान रूप से सम्मान करता था। उसका कहना था कि जो दूसरे के धर्म की निन्दा करता है वह स्वयं अपने धर्म को हानि पहुँचाता है। इस परम्परा का पालन बाद के सभी हिन्दू राजाओं ने किया और दान देने एवं राजकीय सम्मान प्रदान करने में कभी किसी धर्म के विरुद्ध भेदभाव प्रदर्शित नहीं किया।

मुसलिम बादशाहों को भी अपने राज के स्थायित्व के लिए इसे स्वीकार करना पड़ा। उत्तर-पश्चिम से आनेवाले आक्रमणकारी मुसलमान तलवार और आग लेकर यहाँ आये। उनके आक्रमण का उद्देश्य लूटना अथवा भूखण्डों पर कब्जा करना था। उनके विचार कट्टर धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत थे, और इसी धर्मान्धता के आधार पर उन्होंने गैर मुसलमानों के विरुद्ध जेहाद छेड़ दिया। कुछ आक्रमणकारी हिन्दुओं के कत्लेआम का फरमान जारी करने और काटे गये सिरों का प्रदर्शन के लिए मीनार बनाने का आदेश देने में आनन्द का अनुभव करते थे। प्रारम्भ में जेहाद का मुख्य उद्देश्य गैर मुसलमानों को मुसलमान बनाना नहीं प्रत्युत् उन्हें बिलकुल समाप्त ही कर देना था। किन्तु कुछ काल के अनुभव के पश्चात् उन्हें ज्ञात हुआ कि इतनी बड़ी जनसंख्या को कत्ल करना न तो सम्भव ही है और न व्यावहारिक दृष्टि से लाभदायक ही। विदेशी आक्रमणकारी समय समय पर सीमा-स्थित प्रदेशों में बसते गये, किन्तु ज्यों-ज्यों उनका साम्राज्य पूर्व में फैलता गया, त्यों-त्यों इन क्षेत्रों की आबादी के एक अंग विशेष से सम्बन्ध रखना और उनका समर्थन प्राप्त करना उनके लिए आवश्यक होता गया। एक निश्चित सामाजिक आधार का निर्माण किये बिना विदेश में जाकर स्थायी शासन-व्यवस्था

स्थापित करना सम्भव नहीं है। फलतः विनाशलीला का उद्देश्य त्यागकर धर्म-परिवर्तन और समझौते की नीति उन्हें अपनानी पड़ी। अपना धर्म त्यागकर मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रलोभन दिये जाने लगे। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति इसलाम धर्म को स्वीकार कर लेता उसे 'जजिया' से मुक्त कर दिया जाता था। धर्म-परिवर्तन के कार्य में दरवेशों तथा सूफी मतवालों का महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। उनके पवित्र जीवन तथा आश्चर्य में डाल देनेवाले मानवेतर कार्यों से लोग प्रभावित हुए। मुगल शासक उदार विचार के थे और वे हिन्दू और मुसलमान, दोनों को मिलाकर एक राष्ट्र की भावना उत्पन्न कराना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही अकबर ने 'दीन इलाही' नामक एक नया धर्म चलाया। धर्म-प्रवर्तन इस देश मे शासक द्वारा कभी सम्भव नही हुआ है। फलतः दीन इलाही का भी वही भविष्य हुआ। साधुओ और महात्माओं का धर्मोपदेश इस देश में सदा अनुकरणीय रहा है। देश-वासियों द्वारा दीन इलाही तो स्वीकार न किया जा सका, किन्तु उदारतापूर्ण विचारो तथा सभी धर्मों के प्रति सद्भावना रखने के कारण अकबर हिन्दुओं का प्रिय पात्र बन गया। और इसके विपरीत मुसलमान उसकी आज भी निन्दा करते हैं तथा औरंगजेब को, जो असहिष्णुता और धार्मिक पक्षपात के लिए प्रसिद्ध था, एक आदर्श मुसलमान बादशाह के नाम से याद करते है। हिन्दुओ के धर्म-स्थानो की रक्षा एवं व्यवस्था के लिए अकबर आर्थिक सहायता दिया करता था। अकबर के उत्तराधिकारियों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। यहाँ तक कि धर्मान्ध औरंगजेब ने भी इस कार्य के लिए कुछ अनुदान स्वीकृत किये थे। बाहर से आये हुए विदेशी यहाँ के जीवन और यहाँ की परम्पराओं मे धीरे-धीरे घुल-मिल गये। भारत को उन्होने अपना निवासस्थान बना लिया और यहाँ की भाषा भी वे बोलने लगे। समय की गति ने मुसलमानों को सिखला दिया कि धार्मिक सहिष्णुता तथा अन्यान्य धर्मों के प्रति सम्मान ही भारत में सफल शासन-व्यवस्था स्थापित करने की कसौटी है। मध्ययुग मे साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए बड़ा काम हुआ और बहुत हद तक सफलता भी मिली। सूफियों, मुसलमान फकीरों तथा हिन्दू साधू-महात्माओं द्वारा धार्मिक एकता के आन्दोलनों को प्रेरणा प्राप्त होती थी। ये फकीर और महात्मागण बड़े ही उदार विचार के थे। इसलाम धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित वे अवश्य थे किन्तु उनके आन्दोलनों का आधार वेदान्त तथा एकेश्वर-वाद था। सूफियों का मेलजोल हिन्दू साधु-महात्माओ से हो गया। वे सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे और उनके विचार भी कट्टर नही थे। फलतः हिन्दू और मुसलमान, दोनों उनके अनुयायी थे।

ये आन्दोलन धार्मिक भावनाओं से प्रेरित थे और मूर्तिपूजा के भी विरोधी थे। आन्दोलनों के चलाने वाले वेद और कुरान को नहीं मानते थे। हिन्दू और इसलाम, दोनों धर्मो में निहित अन्धविश्वासो के ये कट्टर विरोधी थे। नैतिक

शुद्धता और सच्ची भक्ति पर इन्होंने जोर दिया और एतत्सम्बन्धी प्रदर्शनों तथा विभिन्न आयोजनों को ढोंग की संज्ञा प्रदान की। इन आन्दोलनकर्त्ताओं में म कबीर और नानक जैसे व्यक्तियों के दोनों सम्प्रदायों के लोग अनुयायी बन गये। जात-पांत पर इनका विश्वास नहीं था और छोटे-बड़े सभी जातियों के लिए इन्होंने मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यही कारण था कि इनमें से कुछ सम्प्रदाय हिन्दुओं की निम्न श्रेणी की जातियो के अधिक प्रिय बन गये। इन मतावलम्बियों में कबीर का स्थान सर्वाधिक प्रमुख था। यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण न होगा कि उस समय के अनेक मतप्रवर्त्तको ने कबीर के विचारों से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। कबीर रामानन्द के अनुयायी थे। इन मतावलम्बियों के अधिकाश सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्यता पायी जाती है। ये सभी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर विश्वास करते थे। वेदान्त की पवित्र शिक्षाओं मे इनका अटूट विश्वास था। किन्तु मूर्तिपूजा और ईश्वर की अवतार-सम्बन्धी बातो के वे उतने ही विरोधी थे। कबीर हिन्दू तथा मुसलमानों में व्याप्त अधविश्वासो के कटु आलोचक थे। इसलिए उन्हें स्थिर-स्वार्थों से शत्रुता मोल लेनी पड़ी। इतने पर भी लोकमत ने उनके विचारों का स्वागत किया और उन्हें अपना लिया। यही कारण था कि इनके विचारों से प्रेरणा प्राप्त करके विभिन्न मतों का प्रादुर्भाव हुआ। हालांकि इन विभिन्न मतों का उद्भव देश के भिन्न-भिन्न भागो में हुआ, किन्तु सभी का एकमात्र उद्देश्य धार्मिक विश्वासों का पुनीतिकरण तथा हिन्दू और मुसलमानों को एक ही धार्मिक मंच पर लाकर एक सूत्र में आबद्ध करना था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के लोगो मे एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आने की भावना का जोर था और वे एकता का कोई नया आधार ढूंढ रहे थे। इन आन्दोलनों का जनता पर व्यापक प्रभाव था और दोनो समुदायो के बीच एकता स्थापित करने में सन्तोषजनक सफलता भी मिली। जनता के मन पर इन विचारों का कैसा प्रभाव पड़ा, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगो ने इन नये धर्मों का अनुकरण नहीं किया वे भी अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णु तो हो ही गये; क्योंकि वे समझने लगे थे कि दोनों समुदायों के दृष्टिकोण संकुचित हैं और ऐसी-ऐसी परम्पराएँ कायम हैं जो अन्धविश्वासों पर आधारित है तथा जिनका बुद्धि से कोई मतलब नहीं है। इन सम्प्रदायों ने ब्राह्मण, पुजारियो और मुल्लाओं के अधिकारों पर आक्रमण किया। ये पुजारी और मुल्ले अपने को धर्म के ठेकेदार कहते थे और दोनों सम्प्रदायों के बीच में खाई की तरह बने हुए थे। धर्म के आधार पर दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए इन प्रवर्तकों ने समुचित सहयोग प्रदान किया। समाज में इनकी जड़ें काफी गहरी थीं। उनके कुछ बुनियादी धार्मिक विश्वास वही थे जो समस्त हिन्दुओं की समान सम्पत्ति हैं और जो इन सम्प्रदायों के लिए पृष्ठाधार का काम करते हैं वे मुसलमानों

अद्वैतवाद (एक ईश्वर में विश्वास) को भी मानते थे और प्राचीन उक्त 'श्रमण' परम्परा पर जोर देते थे और अपौरुषीय ग्रन्थों के अधिकृत सूत्रों को नहीं मानते थे। वे केवल नैतिक शुद्धता मे विश्वास करते थे। मुक्ति की प्राप्ति के लिए तपस्या, प्रायश्चित्त तथा यज्ञ आदि उपायों के विरोधी थे। भारत के उन प्राचीन धर्मों का भी वे समर्थन करते थे जिनके अनुसार बिना किसी जाति-धर्म का खयाल किये ही आध्यात्मिक मुक्ति का द्वार खुला था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इन सम्प्रदायों के विचारों के स्रोत भी वे ही थे, जो बौद्ध और वैष्णव धर्मों के रहे है। अन्तर केवल इतना ही था कि ये लोग इसलाम धर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों से प्रभावित थे।

भारत में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के पश्चात् हमारा सम्पर्क पाश्चात्य विज्ञान तथा विचारों से हुआ। फलतः हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों को पश्चिमी वैज्ञानिक विचारधाराओं के प्रति सहिष्णु बनाने के लिए प्रयत्न करना पड़ा। अंग्रेजों ने हमारे ग्राम्य जीवन में हस्तक्षेप किया और भारतीय समाज की अर्थ-व्यवस्था के आधार को नष्ट कर दिया। एक ओर तो यह हुआ और दूसरी ओर भारतीय दस्तकारियों के लोप के साथ ही ऐश्वर्यपूर्ण नगरों के अस्तित्व को भी धक्का लगा। हमारी संस्कृति पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भारतीय युवक अपने पूर्वजों के धार्मिक विचारों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क मे आ जाने के फलस्वरूप हिन्दू तथा इसलाम धर्मों की शुद्धि के हेतु देश में अनेक सुधारवादी आन्दोलनो का जन्म हुआ। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा आर्यसमाज इसी युग की देन है। वहाबी आन्दोलन भी एक सुधारवादी आन्दोलन था और सर सैयद अहमद ने इसलाम धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या पश्चिमी दृष्टिकोण से की। ये सभी आन्दोलन सुधारवादी आन्दोलन थे और धर्मों के बिगड़े हुए रूप को पुनः मौलिक स्तर प्रदान करना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के सभी वर्ग, जो एक सूत्र में आबद्ध थे, छिन्न-भिन्न होने लगे। आर्यसमाज तथा सिख धर्म ने इसलाम धर्म के सैनिक तत्त्वों को ग्रहण कर लिया। इसका प्रभाव विभिन्न वर्गों के सम्बन्धों पर अच्छा नही पड़ा। शनैः-शनैः एक-दूसरे के बीच का अन्तर बढ़ता गया और कुछ दिनों पश्चात् एक-दूसरे के धार्मिक समारोह मे भाग लेना लोगों ने बन्द कर दिया। समाज में ज्यों-ज्यों राजनैतिक जागृति बढ़ती गयी त्यों-त्यों क्षुद्र मनोवृत्ति के राजनीतिज्ञों ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए जनता की धार्मिक भावनाओं का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। इन कार्यों में उन्होंने राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक शान्ति का तनिक भी विचार नही किया। आज युग बदल चुका है। धार्मिक भावनाओं का दिन-दिन ह्रास होता जा रहा है और उनके स्थान पर जनजीवन में राजनीतिक और आर्थिक भावनाएँ जड़ पकड़ती

जा रही है। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक समस्याओं का धार्मिक समाधान नहीं किया जा सकता। हमारे नवीन विचार राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को कार्यान्वित देखने के लिए लालायित हो रहे है। जात-पांत की कट्टरता लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। जाति-पद्धति तत्त्वहीन भी हो चुकी है और अब इससे कोई लाभप्रद कार्य नहीं हो सकता है।

यही कारण है कि हिन्दू समाज की व्यवस्था का ह्रास, फलतः विघटन होता जा रहा है। आज के बदले हुए युग मे हिन्दू समाज तथा राष्ट्रीय एकता, दोनो के हित में, एक ऐसे नये आधार पर हिन्दू समाज का पुनर्संघटन अत्यावश्यक है जो लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार करे तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो को एक सूत्र से आबद्ध कर उनमे एक राष्ट्र की भावना जागृत करने मे समर्थ सिद्ध हो सके। यदि समस्त देशवासी एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक निश्चित मार्ग का अवलम्बन न करेंगे तो ऐक्य कदापि सम्भव नही है। राष्ट्रीयता की भावना भाषा तथा धर्म के कारण उत्पन्न भेदो से परे है, तथा विभिन्न मतो को एकता के सूत्र मे दृढ़ करने की शक्ति है। हमे निराश होने का कोई कारण नहीं है। अन्य स्थानो मे जो बातें सम्भव हो सकी है, यहाँ भी उनका कार्यान्वित होना अवश्यम्भावी है। किन्तु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम सही बात को सही ढंग से समझने की तथा कार्यरूप मे परिणत करने की चेष्टा करे।

विविधता में एकता*

भारतीय धर्म एक उदार और विशाल धर्म है। यह सम्प्रदाय विशेष नहीं है। यह ठीक है कि इसके गर्भ से समय-समय पर अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ, किन्तु यह भी ठीक है कि इन विविध सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक ऐसा भी धर्म है जिसको सम्प्रदाय की आख्या नही प्रदान की जा सकती। सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति विशेष प्रवर्त्तक होता है, उसके निश्चित पवित्र ग्रन्थ होते हैं, जो उस आदि प्रवर्त्तक की कृति है अथवा जिसको आदि प्रवर्त्तक की वाणियों या सवादो का संग्रह समझा जाता है। यह ग्रन्थ पवित्र और प्रामाणिक माने जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि सब बातों का अन्तिम उत्तर इनमे दिया गया है। जो उस सम्प्रदाय के मानने वाले है वह अपने-अपने पक्ष का समर्थन उसी ग्रन्थ का उद्धरण देकर करते हैं। कभी-कभी सम्प्रदाय के भीतर भी अनेक वाद प्रचलित हो जाते हैं, किन्तु इनमे से एक भी ऐसा नहीं है जो ग्रन्थ की प्रामाणिकता को स्वीकार न करता हो, अपने-अपने पवित्र ग्रन्थ के अतिरिक्त वह आदि प्रवर्त्तक को पैगम्बर या गुरु मानते हैं। पैगम्बर या गुरु का जीवन-चरित अनुयायियों के लिए पथ-प्रदर्शक होता है। साथ-साथ प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ संस्कार और अनुष्ठान होते है जो उसको अन्य सम्प्रदायो से व्यावृत्त करते है। इन्ही के आधार पर हम बता सकते है कि अमुक सम्प्रदाय के यह लक्षण हैं। उदाहरण के लिए, हम कह सकते है कि इसलाम का मानने वाला वह है जो एक ईश्वर में विश्वास करता है और मुहम्मद साहब को उनका पैगम्बर मानता है तथा कुरान और हदीस को प्रामाणिक मानता है। नमाज, जकात, रोजा आदि उसके अनुष्ठान और धार्मिक कृत्य है। इन सम्प्रदायो में से कुछ ऐसे हैं जो सार्वभौमिक होते हैं, अर्थात् उनमे सब देश और जाति के लोग सम्मिलित हो सकते है। कुछ ऐसे भी हैं जो स्थानीय है, उनका प्रभाव देश विशेष तक ही सीमित रहता है। जो सार्वभौमिक हो जाते हैं, उनमें कुछ ऐसी विशेषता अवश्य होती है जो उनको जाति और देश का अतिक्रमण करने में समर्थ बनाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी यह सब धर्म-सम्प्रदाय

---

* जनवाणी, मई, १९५०

विशेष हैं। इसका अर्थ यह है कि जहाँ इनमें उदारता है वहाँ इनमें एक प्रकार की संकीर्णता भी है। अपने सम्प्रदाय के लोगों को ही यह स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी समझते है। चरम लक्ष्य की प्राप्ति का यह एक ही मार्ग मानते है। और यह मार्ग वही है जिसका अन्वेषण या निर्देश सम्प्रदाय के आचार्य, प्रवर्त्तक, शास्ता या पैगम्बर ने किया है। जो सम्प्रदाय से बाहर के है उनके लिए स्वर्ग या मोक्ष नही है। इसके अतिरिक्त यह तीर्थिकों को अर्थात् अन्य सम्प्रदाय के मानने वालो को हीन समझते हैं और कभी-कभी उनके साथ विद्वेष भी करते है।

किन्तु जिस भारतीय धर्म का मैंने ऊपर उल्लेख किया है वह ऐसा नहीं है। उसका न कोई आदि प्रवर्त्तक है और न उसके कोई ऐसे अनुष्ठान या कृत्य विशेष है जिनको हम उनका लक्षण ही बता सकें। उसका कोई एक पवित्र ग्रन्थ भी नही है जिसको वह एकमात्र प्रमाण माने। वह दूसरो के पवित्र ग्रन्थो को अपना लेता है। यही कारण है कि उसकी व्याख्या नही हो सकती। जैसे ब्रह्म के लिए हम नेति-नेति कहते है वैसे ही इसके लिए भी हम इतना ही कह सकते हैं कि यह अमुक धर्म नहीं है, अमुक धर्म नही है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह क्या है। इसका कोई स्थिर रूप नहीं है। इसमे सदा विकास होता रहता है। यद्यपि हम इसका लक्षण नहीं बता सकते तथापि हम इसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यदि इसे कोई नाम देना चाहें तो हम व्यापक रूप में इसे सनातन धर्म के नाम से संकीर्तित कर सकते है। किन्तु सनातन धर्म नाम भी आज एक सम्प्रदाय विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिए इसे भारतीय धर्म कहना पसन्द करता हूँ। भारत की अधिकांश जनता इसी धर्म को मानती है। यद्यपि सम्प्रदायों का उस पर प्रभाव पड़ा है, तथापि मुख्य-मुख्य बातों मे यह आज भी उदार है। इस धर्म का विश्वास है कि स्वर्ग और मोक्षलाभ के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म में रहकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। स्पष्ट है कि यह साम्प्रदायिक दृष्टि नही है। यह मानता है कि लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और विविध मार्गो पर चलकर भी एक ही लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है। पुन: इसकी मान्यता है कि अनुष्ठान, संस्कार विशेष सम्प्रदाय विशेष के चिह्न हैं, अमुक-अमुक सम्प्रदाय के लोगों को इन कृत्यों को करना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरो के लिए भी इनका कोई मूल्य है अथवा चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक धर्म के लिए कुछ अनुष्ठान और कृत्यों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं के द्वारा जनसमूह का आचरण व्यवहार बनता है। यह देश और काल पर निर्भर करता है, किन्तु यह सत्य, अहिंसा आदि का स्थान नही ले सकते. किन्तु सम्प्रदायवादी अपने-अपने अनुष्ठानो को बड़ा महत्व देते हैं और जो उनको नही मानते उनके लिए सुख और नि श्रेयस

यह है कि यह किसी एक व्यक्ति को पैगम्बर या गुरु नही मानता। दूसरे सम्प्रदायो के गुरुओं को अपनाने मे इसे झिझक नही होती। जहाँ-जहाँ वह विभूति, श्री और ऐश्वर्य देखता है उसी को वह ईश्वर के तेज का अश समझता है। हिन्दुओ ने भगवान् बुद्ध को भी अवतार माना। वह सब सन्तो को मानता है, सबकी वाणी को सुनता है। वह मुसलमान सूफी फकीरो को भी मानता है, उनकी दरगाह पर भी मन्नत करता है। यदि राजनीतिक कारण उपस्थित न हो गये होते तो आज भी वह ऐसा ही करता, क्योंकि वह सब धर्मो को मोक्ष का उपाय मानता है, इसलिए वह धर्म-विरुद्ध प्रचार नही करता और दूसरो को अपने धर्म मे दीक्षा देने का प्रयत्न नहीं करता। यदि किसी सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति को उसकी साधना पसन्द है तो बस उसे अपने सम्प्रदाय में रहते हुए उस साधना का साधक बना लेता है, धर्म-परिवर्तन की अनुमति नही देता। यदि उसकी बस्ती के चारो ओर रहने वाले लोग किसी धर्म विशेष मे दीक्षित नहीं है, और उसके प्रभाव मे आकर उसके आचार-विचार को स्वीकार करना चाहते है, तो वह इसकी सुविधा उत्पन्न कर देता है।

इन्हीं गुणों के कारण दूसरे जो उससे अलग होते है और अपना एक पृथक् सम्प्रदाय बना लेते है उनको यह अपने से अलग नहीं होने देता। भारतीय धर्म की इस अद्भुत शक्ति को विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय धर्म में अनेक पंथ उत्पन्न हुए। भारतीय जनता ने उनके गुरुओं का आदर किया और अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाये। अन्त मे भारतीय धर्म की विजय हुई और समाज से अलग हुए यह सम्प्रदाय भारतीय धर्म के दायरे में फिर आ गये। यहाँ एक-दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। सिख सम्प्रदाय के दशम गुरु ने सिखों का संगठन किया और उनको कुछ विशेष चिह्न धारण करने की आज्ञा दी। धीरे-धीरे साधारण समाज से सिखों का पार्थक्य होने लगा, किन्तु हिन्दुओ ने गुरुओं की उपासना की और उनको समाज का रक्षक समझ अपने प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गुरु ग्रन्थ साहब का भी पाठ कराया। धीरे-धीरे यह पार्थक्य दूर होने लगा और सिख अपने को हिन्दू समझने लगे। मैकोलिफ, जिसने ६ जिल्दों में सिखों का इतिहास लिखा है, पुस्तक की भूमिका मे लिखता है कि सन् १९०८ में सिख युवकों को यह कहते देखकर कि वह हिन्दू है मुझे आश्चर्य हुआ और अन्त मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतीय धर्म में एक ऐसी शक्ति है जो उन लोगों को भी अपने पास ले आती है जो उससे दूर रहना चाहते है। मध्ययुग में सन्त और सूफियो ने जो हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने का सफल प्रयत्न किया वह भी इसी भारतीय धर्म की अन्तरात्मा का प्रदर्शन है। भारतीय मुसलमानों को भी यह मानना पड़ा कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म का आचरण करना चाहिए। दूसरा उदाहरण आर्यसमाज का है। एक समय था जब आर्यसमाज के उपदेशक अपनी सारी शक्ति

सनातन धर्म की (जिसे वह पौराणिक धर्म कहते हैं) टीका-टिप्पणी में व्यय करते थे। आये दिन सनातनियों से उनके वादविवाद होते थे। इन्हीं के कटु प्रचार ने भारत धर्म महामण्डल को जन्म दिया था। अब आज यह टीका-टिप्पणी नही के बराबर है और शास्त्रार्थ भी बन्द हो गये हैं। समाज-सुधार की जो शिक्षा आर्यसमाज ने दी उसे भारतीय समाज ने स्वीकार-सा कर लिया और आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के प्रति अपना आदर प्रकट कर आर्यसमाज के धार्मिक प्रचार के कार्य को एक प्रकार से कुंठित-सा कर दिया।

जब तक हम भारतीय धर्म के इस महत्त्व को नही समझेंगे, यह समझना कठिन है कि हमने विविधता में एकता का कैसा सफल अन्वेषण किया। हमारा देश विशाल है। इसमें अनेक जातियाँ बसती थीं। बाहर से भी समय-समय पर अनेक जातियाँ आक्रमणकारी के रूप में आयी और यहाँ बस गयी तथा भारतीय समाज में घुल-मिल गयीं। विभिन्न जातियों के अपने-अपने विश्वास थे। इन सबमे सामंजस्य करना एक दुष्कर कार्य था और बिना किसी प्रकार का समन्वय किये परस्पर के संघर्ष से समाज की रक्षा करना सम्भव न था। दो ही उपाय थे। या तो सबको चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से, किसी एक धर्म में दीक्षित कर लिया जाता, विविधता की रक्षा करते हुए एकता प्रतिष्ठित की जाती। भारत ने दूसरा मार्ग अपनाया। उस समय पहला मार्ग स्वीकार करना सम्भव भी न था, और यह मार्ग श्रेयस्कर भी न था, इसलिए कुल, देश, जाति के आचार मान्य किये गये तथा धार्मिक विश्वासों और सिद्धान्तों की अपेक्षा समाज-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया। चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम के सिद्धान्त को समाज-व्यवस्था का आधार बनाया गया और जब देखा कि चार से कही अधिक जाते है तो उनको चार वर्णो के परस्पर के अनुलोम-प्रतिलोम विवाह के आधार पर बना हुआ माना। समाज-व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय धर्म के तत्त्वो पर जोर दिया गया। अर्थात् एक ओर विविधता को मान्यता देते हुए समाज के प्रचलित विभागों को चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी, जिससे वह एक ही समाज के अंग माने जा सकें और दूसरी ओर प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायो में भारतीय धर्म के उदार तत्त्वों को निहित करने का प्रयत्न किया गया। यह उदार तत्त्व किसी एक ग्रन्थ में उपनिबद्ध नही हैं। आप इनको उपनिषदो में, सन्तों की वाणी में, और इनसे भी कही अधिक, सामान्य जनता के जीवन में, बिखरा हुआ पायेंगे।

आध्यात्मिक शिक्षा के क्षेत्र में एकत्व की इसी बुद्धि ने योग द्वारा ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी को मिलाया और एक लक्ष्य पर पहुँचाया। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध, जैन दर्शन सभी योग द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति बताते है। सामंजस्य की इसी बुद्धि के कारण भारत में

धर्म के नाम पर बहुत कम रक्तपात हुआ। प्राय: सब राजाओं ने सब धर्मों का सत्कार किया और धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी। इसी भाव के प्रताप से मुसलमान बादशाहों ने भी हिन्दू मन्दिरों को जागीरें दीं और आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी हिन्दू-मुसलमानों के पवित्र स्थानों की देखरेख करती थी।

भारतीय धर्म का यह उदार भाव कभी-कभी दुर्बल हो जाता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बार-बार विताड़ित होने पर भी नष्ट नहीं होता। अभी जब भारत का बँटवारा हुआ और उसके फलस्वरूप हिंसा और बर्बरता का नग्न रूप देखने को मिला तब मन में विचार आया कि उस उदार भाव की अन्त्येष्टि हो रही है, किन्तु थोड़े समय के पश्चात् ही भारतीय हृदय बहुत कुछ निर्मल और स्वच्छ होने लगा और यह प्रतीति हुई कि वह पुराना उदार भाव अब भी जीवित है। पण्डितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी में तथा तीर्थों में यह उदार भाव नहीं मिलेगा। यदि इसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणों के खेतों और चौपालों में इसे ढूँढ़िए।

यही उदार भाव सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखने के लिए विवश करता है। यही समत्व का योग है। यही उपनिषदों की शिक्षा है। इसीलिए कहा गया है कि वह स्वराज्य का अधिगम करता है। किन्तु आज की अवस्था में यह प्रकार पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सकता। यह ठीक है कि सर्वरूपेण एकरूपता कभी नहीं हो सकती, विविधता का होना स्वाभाविक है, अत: समन्वय की बुद्धि की सदा आवश्यकता रहेगी। किन्तु राष्ट्रवाद के युग में एक देश में रहनेवाले लोगों के आचार में अधिक से अधिक साम्य होना चाहिए। रेल, तार और विज्ञान विविधता को मिटा रहे हैं। धर्म का प्रभाव भी क्षीण हो रहा है। आधुनिक सुविधाओं के कारण जनता बड़े-बड़े समुदायों में संगठित हो रही है। रेडियो और प्रचार के अन्य साधन एकता के कार्य को सुलभ बना रहे हैं। हमारी पुरानी समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। यह जन-जागरण का युग है। सब अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे युग में जब तक एकता के नये साधन नहीं निकाले जावेंगे, तब तक संघर्ष और विद्रोह की सम्भावना बनी रहेगी। भिन्न-भिन्न आचार के समुदायों में तीव्र संघर्ष हो सकता है। जब तक सबके लिए कुछ ऐसे प्रतीक और उद्देश्य न हों जो समान हैं, तब तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच होनेवाले संघर्ष आज के युग में बड़े भीषण होंगे। जहाँ एक ओर शान्ति और सहयोग के साधन बढ़ रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर विद्वेष और विद्रोह के लिए भी सुविधाएँ बढ़ रही हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र को आचार-साम्य की चेष्टा करनी चाहिए। जब धर्म के क्षेत्र से जीवन के विविध अंग बहिष्कृत हो रहे हैं तब धर्म या सम्प्रदाय का विचार न कर सबके लिए एक ही कानून होना चाहिए। एकरूपता का यह कार्य बलपूर्वक नहीं हो सकता, क्योंकि बल का प्रयोग करने से

तीव्र प्रतिक्रिया होती है और विरोध बढ़ जाता है। यह कार्य सब बालक-बालिकाओं की समान शिक्षा-दीक्षा से होना चाहिए तथा धीरे-धीरे एक वेशभूषा, एक राष्ट्र-भाषा, एक कानून का प्रवर्तन होना चाहिए। आचारों की विभिन्नता राष्ट्रीयता को दुर्बल करती है। अतः उनमें यथाशक्य एकरूपता लाने का प्रयत्न होना चाहिए। पश्चिम की शिक्षा द्वारा यह कार्य थोड़ा-बहुत सम्पन्न हुआ था, अब नये ढंग से इस काम को करना है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है, विविधता सर्वथा नहीं मिट सकती। एक राष्ट्र के भीतर एकरूपता का यह काम हो सकता है, किन्तु संसार में तो यह विविधता बहुत दिनों तक रहेगी। शान्ति-रक्षा के लिए तथा युद्ध को रोकने के लिए भारतीय उदार धर्म के तत्त्व की अब भी आवश्यकता है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सौहार्द और सहयोग स्थापित करने में इससे सहायता मिलेगी। इस उदात्त भाव की आज विशेष आवश्यकता है। केवल युग के अनुरूप उसके बाह्य रूप और आकार को बदलना है।

—आल इण्डिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से

समष्टि और व्यक्ति*

व्यक्ति और समष्टि का विवाद बहुत पुराना है। दार्शनिकों में भी दोनों मतवादों के पक्षपाती पाये जाते हैं। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में समष्टिवाद का समर्थन किया है। हेगेल ने अपने दार्शनिक विचारों मे इसी वाद को आश्रय दिया है। हेगेल के अनुसार सर्व समष्टि के प्रतिरूप इस बाह्य जगत् मे संस्थाओं का आकार धारण करते हैं। भाषा, राज, कला, धर्म इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं की अन्तरात्मा को आत्मसात करने से ही व्यक्तिगत विकास होता है। संस्थाओं के विरुद्ध व्यक्तियों के कोई आध्यात्मिक अधिकार नहीं है। यह ठीक है कि इतिहास बताता है कि संस्थाओं में परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन विश्वात्मा का काम है। विश्वात्मा अपने महापुरुषों का वरण करता है। यही उसके उपकरण हैं। इनसे अन्यत्र व्यक्तियों का कोई हाथ नहीं होता। १९वीं शती के अन्तिम भाग में हेगेलवाद का सम्मिश्रण जीवशास्त्र के विकास-सिद्धान्त से हो गया। 'विकास' (evolution) वह शक्ति है जो अपने लक्ष्य मे परिणत होना है। इसके विरुद्ध व्यक्तियों के भाव और उनकी इच्छाएँ अशक्त हैं अथवा इन्ही के द्वारा 'विकास' अपना कार्य सम्पन्न करता है। हेगेल के कुछ अनुयायियों ने सर्व समष्टि और व्यक्ति का सामञ्जस्य करने की चेष्टा की। उन्होंने समाज को समुदाय मात्र न मानकर एक अवयवी माना। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत योग्यता के प्रयोग के लिए सामाजिक संगठन का होना आवश्यक है। किन्तु समाज को अवयवी मानने का यह अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक मर्यादित स्थान और उसकी एक नियत वृत्ति है और उसकी पूर्ति अन्य अवयवों और वृत्तियों से होती हैं। इसकी उपमा शरीर से दी जाती है। शरीर के विभिन्न अवयवों का अन्योन्य सम्बन्ध होता है तथा शरीर के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अवयव की वृत्ति नियत है। वह इस विषय में स्वतन्त्र नहीं है। अपनी नियत क्रिया को सम्पन्न करने में ही अवयव की कृतकृत्यता है और इसी प्रकार शरीर की

---

* जनवाणी, मई १९५१

स्थिति सम्भव है। इस दृष्टान्त को समाज में लागू करने का यह फल होता है कि समाज के संगठन मे वर्गो का जो विभेद है उसको दार्शनिक आश्रय प्राप्त होता है।

समाजशास्त्रियो में ऐसे विचार के भी है जो व्यक्ति पर समाज की प्रधानता स्वीकार करते हैं। यह समाज का भी अपना एक व्यक्तित्व मानते हैं। इनके अनुसार समाज व्यक्तियों का समुदाय मात्र नही है। समाज के व्यक्तित्व को यह मानव के व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा मानते हैं। इसके अनुसार समुदाय तथा समाज, राष्ट्र, राज्य का ही वस्तुतः व्यक्तित्व है। व्यक्ति एक क्षुद्र, अकिंचन अंशमात्र है, समाज रूपी बृहत् शरीर का वह एक तुच्छ कण है।

इस विचार-सरणि का २०वी शती पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। फासिज्म को इसी से प्रेरणा मिली थी। राष्ट्र और राज्य सब कुछ है, व्यक्ति कुछ नही है। राष्ट्र और राज्य के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने में ही व्यक्ति की सफलता और परिपूर्णता है। इसी विचार ने राज्य को सर्वोपरि बना दिया और उसको मनुष्य के जीवन के सब विभागों पर पूर्ण आधिपत्य प्रदान किया।

इस विचार के फैलने के कई कारण है। पूँजीवादी युग के जनतन्त्र की असफलता और बड़े पैमाने के उद्योग, व्यापार की अतिशय वृद्धि इसके मुख्य कारण है। राजनीतिक जनतन्त्र व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करता है और प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार देता है, किन्तु गरीबी और बेकारी की समस्या को हल नही करता। इसका इलाज तो यह था कि अधूरे जनतन्त्र को पूर्ण किया जाय, आर्थिक क्षेत्र मे भी जनतन्त्र का प्रयोग किया जाय और इस प्रकार व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए गरीबी और बेकारी को दूर किया जाय। किन्तु ऐसा न करके जनतन्त्र पर ही आक्रमण किया और उसका उपहास किया गया। इससे जनतन्त्र को आघात पहुँचा और लोग यह समझने लगे कि राजनीतिक जनतन्त्र एक प्रकार का ढोंग है। लोगों का विश्वास जनतन्त्र के उन मूल्यों पर से उठने लगा जिनको पश्चिमी यूरोप ने अनेक कष्ट सहकर और अनेक संघर्षों के पश्चात् प्राप्त किया था। इससे फासिज्म को बल मिला।

पूँजीवाद के प्रसार ने छोटे पैमाने के उद्योग, व्यापार को छिन्न-भिन्न कर दिया। बैंको के पास अथाह पूँजी हो गयी और वह भी इस पूँजी को प्रत्यक्ष रूप से उद्योग, व्यवसाय में लगाने लगे। बड़े-बड़े व्यवसायियों ने छोटे दूकानदारो पर भी धावा बोल दिया और उनके व्यापार को खत्म कर दिया। व्यवसायियों के बड़े-बड़े समुदाय बन गये और इनका मुकाबला करना असम्भव हो गया। पूँजीवाद के विकास का यही प्रकार है। आर्थिक क्षेत्र में जब यह व्यवस्था उत्पन्न हो गयी तब इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ने लगा। जिस समाज मे धन का सबसे अधिक महत्त्व हो उस समाज में आर्थिक पद्धति सामाजिक जीवन के सब आकारो को प्रभावित करने लगती है इसके [illegible] व्यक्ति का महत्त्व केवल

आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु समस्त जीवन में बँट गया। व्यक्ति एक बड़ी मशीन का कलपुरजा मात्र रह गया और बृहत् समुदाय की तुलना में तुच्छ और नगण्य हो गया। इस परिस्थिति में अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के विकास की बात सोचना अर्थ-शून्य हो गया, और जो इस प्रकार सोचता है वह समाज का शत्रु है और व्यक्ति-वादी समझा जाता है। राष्ट्र और राज्य के हित ही सर्वोपरि हैं और उनके लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। नागरिक अधिकार, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य आदि व्यर्थ की बकवाद है, और यदि वस्तुतः जनसाधारण सकल अधिकार और स्वत्व का प्रभव और उद्गम स्थान है तो राज्य, जो जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है, व्यक्ति पर प्रधानता पाने का अधिकारी है। इसीलिए शासक अपने शासन को सच्चा जनतन्त्र घोषित करते हैं।

समाजवादी भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए। उन पर हेगेल के विचारों की छाप है। रैमजे मैकडोनाल्ड तक ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि व्यक्ति उस दैवी घटना का उपकरण मात्र है जिस ओर सारी सृष्टि बढ़ रही है। राज्य सर्व समष्टि के राजनीतिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है, वह समष्टि के लिए सोचता-विचारता है।

कुछ समाजवादियों का कहना है कि भविष्य के आदर्श समाज में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अनुभव ही नहीं करेगा और हर प्रकार से समुदाय में विलीन हो जायेगा। उसका जीवन सामुदायिक जीवन हो जायेगा, उसके विचार, उसकी वेदना और उसकी अभिलाषाएँ सामुदायिक हो जायँगी।

यह विचार-सरणि व्यक्ति के महत्त्व को सर्वथा विनष्ट करती है और उसकी बलिवेदी पर समुदाय के महत्त्व को बढ़ाया है किन्तु मार्क्स तथा एंगेल्स की शिक्षा के यह अति प्रतिकूल है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक के स्वच्छन्द विकास से सबका स्वच्छन्द स्थान होता है। एक दूसरे स्थल पर मार्क्स कहते हैं कि श्रमजीवी तभी स्वतन्त्र है जब वह अपने उपकरणों का मलिक है। यह स्वामित्व दो में से एक रूप धारण करता और जब व्यक्तिगत स्वामित्व का नित्य लोप होता जाता है तो उसके लिए केवल सामुदायिक स्वामित्व रह जाता है। समाजवाद के उपक्रम के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो मालूम होगा कि वह उस पूँजीवादी समाज के विरोध में उत्पन्न हुआ था जो मनुष्य को वस्तु-उपकरण बनाकर गुलाम बनाना चाहता था। मार्क्स व्यक्ति के विकास के लिए समाजवाद की स्थापना चाहते थे। समुदाय का अपना ऐसा कोई आन्तरिक माहात्म्य नहीं है। इसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता की गारन्टी देने के लिए है। समाज में रहकर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है और उद्योग-व्यवसाय के युग में राष्ट्र की सम्पत्ति के समाजीकरण से इस स्वतन्त्रता और पूर्ण व्यक्तित्व का आधार सम्भव है। किन्तु समाजीकरण का फल यह होता है कि राजकर्मचारियों की प्रधानता हे

जाती है और जब राजनीतिक और आर्थिक शक्ति राज्य में केन्द्रित हो जाती है तब सारा झुकाव समुदाय को प्रधानता देने का हो जाता है। तब समुदाय ही सिद्धान्त बन जाता है। और जो आरम्भ में एक लक्ष्य के पाने का उपकरण मात्र था वह स्वयं लक्ष्य हो जाता है। इस दोष का निवारण हो सकता है और व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामुदायिक आर्थिक जीवन में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है।

समष्टिवाद के विरुद्ध काण्ट व्यक्ति को किसी बाह्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं मानता। उसका विचार है कि प्रत्येक मानव स्वतः उद्देश्य स्वरूप है। उसका महत्त्व सबसे अधिक है। मानव गौरवपूर्ण है, उसके व्यक्तित्व का विकास सर्वोत्कृष्ट नियम है। इसे व्यक्तिवाद कहते है। किन्तु कुछ लोगों ने इसे अति व्यक्तिवाद का रूप दे दिया। उनका कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए जायदाद पर उसका स्वामित्व होना आवश्यक है। स्वामित्व की कोई सीमा निर्धारित करनी चाहिए। यह अनियंत्रित उद्योग, व्यापार के समर्थक है। उनका मत है कि इस स्वतन्त्रता का प्रतिषेध करना व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का प्रतिषेध करना है।

वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है। आज के युग मे आर्थिक क्षेत्र में समुदायत्व अनिवार्य है। इस समुदायत्व को स्वीकार करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं, यही मानव का उत्कृष्ट मूल्य है। उसको पूर्ण विकास का अवसर मिलना चाहिए। आज करोड़ों लोग इस अवसर से वंचित हैं। परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो उसको विकास का अवसर नहीं देती। इन परिस्थितियों को बदलना चाहिए। स्वतन्त्र वातावरण मे ही व्यक्तित्व निखरता है, उसका विकास होता है। किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है, मर्यादाहीनता नहीं है। विकास-प्राप्त मानव सुसंस्कृत है और दूसरों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है, वह संयत होता है। समाज में रहकर ही मानवोचित गुणों का विकास होता है। दया, भ्रातृत्व, त्याग आदि गुण समाज में रहकर ही प्रादुर्भूत होते हैं। समाज द्वारा ही मानव का विकास हुआ है। किन्तु यह विकास कुछ मर्यादा स्वीकार करके ही हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि एक मर्यादा या नियन्त्रण स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, दूसरा बाहर से आरोपित होता है। समाज में रहकर तरह-तरह के नियम मानने पड़ते हैं, अन्यथा समाज विशृंखल हो जाता है और किसी को भी विकास का अवसर नहीं मिलता। अतः सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उचित मर्यादा का स्वीकार करना आवश्यक है। किन्तु यदि राज्य की ओर से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, यदि उसके नागरिक अधिकार सुरक्षित नहीं हैं, यदि उसको अपने भावों के व्यक्त करने तथा दूसरो के साथ सहयोग कर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन बनाने की स्वतन्त्रता नहीं है तो व्यक्ति के विकास में बाधा पहुँचती है।

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। इसकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। सामाजिक संगठन में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता था। समाज वर्णों मे विभक्त था। प्रत्येक वर्ण की जीविका नियत थी, सामाजिक नियन्त्रण कुछ बातों में कठोर था। खानपान, विवाह-सम्बन्ध और जीविका के विषय में कठोर नियन्त्रण था। किन्तु विचार की स्वतन्त्रता थी। आप चाहे ईश्वर के अस्तित्व को मानें या न मानें, आपका धर्म चाहे वेदबाह्य हो, आप समाज से बहिष्कृत नहीं हो सकते। किन्तु जिस काल में प्रतिलोम विवाह माना था, उस काल में प्रतिलोम विवाह करने पर समाज से पृथक् होना पड़ता था और जिस काल मे केवल सवर्ण विवाह की ही अनुज्ञा थी, उस काल में असवर्ण विवाह करने पर समाज से अलग होना पड़ता था। इसी प्रकार अन्त्यज अपनी जाति के रिवाज और नियमों से बँधे हुए थे। जो अधिकार द्विजों को प्राप्त था वह शूद्रों और दूसरे लोगों को नहीं था। आजीविका के कुलागत होने के कारण और प्रत्येक वर्ण की आजीविका के नियत होने के कारण स्वाभाविक विकास में रुकावट होती है। किन्तु जो संन्यास ग्रहण करता था और घरबार छोड़कर आध्यात्मिक चिन्तन में लगता था उसके लिए सामाजिक नियम नही थे। श्रमण सब कोई हो सकते थे और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। उपनिषदों में लिखा है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नही है। स्वर्ग और नरक भोग-भूमियाँ हैं। मनुष्य-जन्म मे ही मोक्ष की साधना हो सकती है। भव-चक्र से छुटकारा पाना और सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होना जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है। सब दर्शनों का ध्येय मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस या निर्वाण है। इस अर्थ मे सब दर्शन मोक्षशास्त्र है। जो परम पुरुषार्थ के लिए यत्नशील है वह साधारणजन के समान आचरण नही करता। उसकी चर्या भिन्न है। उसका समाज में सबसे अधिक आदर होता है। उसके लिए समाज के बन्धन नही हैं। अतः हमारे देश मे आध्यात्मिक जीवन के विषय में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य था। किन्तु सामाजिक बन्धन कुछ बातों मे कठोर था। प्राचीन काल में सब देशों में अपने समाज पर व्यक्ति को बहुत कुछ आश्रित रहना पड़ता था। यही बात यहाँ भी थी। इसीलिए व्यक्ति पर समाज का नियन्त्रण भी अधिक था। सम्मिलित कुल की प्रणाली मे कुल का कठोर नियन्त्रण होता है। कुल इकाई समझा जाता है, व्यक्ति नहीं। मनुष्यों का संगठन कुल-कबीलों से गुजरकर राष्ट्र के स्तर तक पहुँचा है और अब वह सब साधन एकत्र हो रहे है जो एक संसार, एक राज्य की भावना को साकार कर सकते है। पश्चिम यूरोप का व्यक्ति किस प्रकार कुछ और धार्मिक संस्थाओं के नियन्त्रण से स्वतन्त्र हुआ है और किस प्रकार उसने राज्य के विरुद्ध लड़कर नागरिक अधिकार प्राप्त किये हैं इसका इतिहास बड़ा रोचक है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ राज्य की ओर से कोई ऐसे नियन्त्रण न थे जिनसे विचार-स्वातन्त्र्य को क्षति

पहुँचे। समाज का नियन्त्रण अवश्य था। उसकी ओर से भी विचार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न थी। किन्तु कुछ विषयों में कार्य की स्वतन्त्रता न थी। समष्टि का इन विषयों में व्यक्ति पर अक्षुण्ण अधिकार था।

यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को अमर्यादित स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है। मर्यादा को स्वीकार करके ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। यह ठीक है कि व्यक्ति पर परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, किन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्ति परिस्थिति को बदलता है। मानव और प्रकृति की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। जीवन और समाज स्थिर नहीं हैं। उनको बदलने की आवश्यकता पड़ती रहती है। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लोप हो जाय और कानून, परम्परा और रूढ़ि द्वारा उसको स्वतन्त्र रीति से सोचने और काम करने का अधिकार न दिया जाय तो समाज की उन्नति का क्रम बन्द हो जाय और मानवोन्नति असम्भव हो जाय। इतिहास बताता है कि जिस समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और राज्य या समाज की ओर से विचारों का दमन हुआ उस समाज में गत्यवरोध हुआ और उसका ह्रास और पतन हुआ। विचार और संस्था के इतिहास में एक समय आता है जब वह जड़ और स्थिर हो जाती है। परिस्थितियाँ बदल जाती है और नये विचारों और नयी संस्थाओं की माँग करती है। किन्तु पुराने विचार और पुरानी सस्थाएँ मनुष्य पर प्रभाव जमाए रहती है कि वह नये सिरे से सोचने को तैयार नहीं होता। अतः समाज के स्वस्थ जीवन के लिए ऐसे केन्द्र चाहिए जहाँ से पुराने विचारों और संस्थाओं की आलोचना होती रहे और जिनसे नये विचारों के उपक्रम में सहायता मिलती रहे जिसमें जीवन का प्रवाह कभी रुके नहीं और जीवन किसी सोते में आबद्ध न हो। इसके लिए विचार-विनिमय की स्वतन्त्रता अपेक्षित है।

यदि प्रत्येक अपनी मर्यादा को समझे तो व्यक्ति और समष्टि में कोई झगड़ा नहीं है। आखिर, यह व्यक्ति का विकास है क्या? अपनी निहित शक्तियों का पूर्ण आविर्भाव। यह कार्य समाज में रहकर ही होता है, अन्यथा नहीं। ज्यों-ज्यों समाज ऊँचे स्तर में उठता है, त्यों-त्यों व्यक्तित्व के विकास की गहराई बढ़ती जाती है। एक कबीले के व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्ति की परस्पर तुलना करने से मालूम होगा कि राष्ट्र के विचार, अनुभव और कल्पना में कितना आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। धीरे-धीरे व्यक्तित्व समृद्ध होता है। पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति, जो सकल विश्व को अपने व्यक्तित्व में समा लेता है, राष्ट्र की सीमा का उल्लंघन करता है; जाति, धर्म, रंग का भेद न कर मनुष्य मात्र के प्रति आदर और प्रीति का भाव रखता है तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो अपने सब कार्यों को करता है। उसके व्यक्तित्व की उदारता समृद्धि तथा वैचित्र्य का

क्या कहना ? उसकी सूक्ष्म दृष्टि, उसकी गम्भीर और कोमल अनुभूति सकल विश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करती है। ऐसा मनुष्य जगद्वन्द्य है। ऐसे व्यक्तित्व के लिए स्वच्छन्द वातावरण चाहिए। अतः व्यक्ति और समष्टि के बीच सामजस्य का होना जरूरी है। समाज का उचित हस्तक्षेप कहाँ और किस दरजे तक हो सकता है तथा वह कौन-सा क्षेत्र है, उसकी क्या सीमाएँ हैं, जिसमे व्यक्ति का एकमात्र आधिपत्य होना चाहिये, इन बातों का निर्णय होना आवश्यक है।

हमारे समाज में विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। इसके कारण धार्मिक सहिष्णुता भी रही है। इसी कारण आज भी हम स्त्रियों को या हरिजनों को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध नही करते। यूरोप को या रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों को वोट के सामान्य अधिकार के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है! हाँ, हमारे यहाँ सामाजिक अधिकार देने के लिए अवश्य विरोध किया जाता है, क्योंकि सामाजिक सग्रंथन ही हिन्दू धर्म की विशेषता है। इस विचार-स्वातन्त्र्य की जो हमारी सबसे बड़ी निधि है, हमको रक्षा करनी है और उसकी युग के अनुकूल वृद्धि भी करनी है। बिरादरी के बन्धन ढीले हो रहे हैं, व्यक्ति उनके कठोर नियन्त्रण से मुक्त हो रहा है। किन्तु एक ओर अति-व्यक्तिवाद का भय है और दूसरी ओर यह भय है कि कहीं भविष्य में अति-समष्टिवाद व्यक्ति को ग्रसित न कर ले। हमको इन दोनों भयों का प्रतिकार करना है और एक ऐसी व्यवस्था के लिए यत्नशील होना है जो व्यक्ति और समष्टि का उचित समन्वय कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि मानव से श्रेष्ठतर कोई वस्तु नही है। किन्तु यह भी सत्य है कि समाज में रहकर ही मानव इसका अधिकारी बन सकता है। समाज मे वह अपनी शक्तियों के विकास के लिए सामग्री पाता है, समाज में ही वह अपनी शक्तियों का प्रयोग कर उनको विकसित करता है और समाज को ही अपना सर्वस्व देकर पूर्ण और कृतकृत्य होता है।

—आल इण्डिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से

समाज और प्रेस

लोकतन्त्र की रक्षा और उन्नति के लिये प्रेस की स्वतन्त्रता आवश्यक है। प्रेस का मुख्य कार्य नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा देना है जिससे वह अपने वोट का उचित उपयोग कर सके। सार्वजनिक प्रश्नो पर अपना मत निश्चित करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतर प्रेस पर ही निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि प्रेस के द्वारा ही उसको उन घटनाओं का ज्ञान होता है, जिनके जाने बिना कोई मत स्थिर नहीं किया जा सकता। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि किसी एक समाचार-पत्र के लिए सब घटनाओं का उल्लेख करना सम्भव नहीं है, क्योंकि घटनायें अन-गिनत हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि पत्र-पत्रिकायें बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित हों, जिसमें एक विचारशील नागरिक कई पत्र पढ़कर घटनाओं का संग्रह करे और इस प्रकार वस्तुस्थिति की अच्छी जानकारी प्राप्त करे। आरम्भ में राजनीतिक शिक्षा देने के लिए ही प्राय: राजनीतिक पत्रों का प्रकाशन हुआ करता था। प्रकाशकों में व्यापार-बुद्धि नहीं थी। यदि कोई आर्थिक लाभ होता था तो यह आनुषंगिक था। विविध राजनीतिक दल अपने विचारों का प्रचार करने के लिए पत्रों का प्रकाशन करते थे। इनके सम्पादक सार्वजनिक नेता या विचारक होते थे और सम्पादकीय लेखों में एक विशेष राजनीतिक दृष्टि का प्रतिपादन करते थे। किन्तु ऐसे पत्रों के पढ़ने वाले बहुत थोड़े ही होते थे। जनता पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता था। एक तो अधिकांश जनता साक्षर न थी; दूसरे, कम पढ़े-लिखे लोगों मे विचारशक्ति नहीं होती। इसका परिणाम यह होता था कि स्वतन्त्र देशों में शासक वर्ग और परतन्त्र देशों में शिक्षित वर्ग ही इन पत्रों को पढा करते थे।

अपने देश में श्री मोतीलाल घोष, लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द घोष, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी आदि सभी पत्रों के सम्पादक थे। जो नेता स्वयं सम्पादक न थे, उनके भी अपने पत्र थे। इन पत्रो को सदा घाटा रहा करता था। सार्वजनिक चन्दे से ही इनका काम चलता था इनमे से यदि किसी की लिमिटेड कम्पनी बनी भी तो

उसमें हिस्सा लेने वाले मुनाफे की आशा से हिस्सा नहीं लेते थे। वे यही समझते थे कि हम दान दे रहे हैं। किन्तु धीरे-धीरे देश में उद्योग-व्यवसाय की वृद्धि होने लगी। इन विविध कारणों से प्रेस भी धीरे-धीरे व्यापार की दृष्टि से चलाया जाने लगा। यह स्पष्ट है कि इस काम में पूँजीपतियों को बड़ी सुविधा है। पूँजी के बढ़ने से उद्योग-व्यवसाय के मालिकों की शक्ति बढ़ जाती है और जब प्रजा के हाथ में राजनीतिक शक्ति के आने का सुयोग प्राप्त होता है, तब स्वभावतः यह वर्ग उस शक्ति को अपने अधीन करने, कम-से-कम नये शासक वर्ग को प्रभावित करने, की चेष्टा करने लगता है। लोकमत को प्रभावित करने का सबसे अच्छा साधन प्रेस है। इसलिए पूँजीपतियों की दृष्टि प्रेस पर पड़ती है और अनेक प्रकार से वह उस पर अपना नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते हैं। गत महायुद्ध में भारतीय पूँजी की वृद्धि अति मात्रा में हुई है और युद्ध के कारण संसार के समाचार जानने की उत्सुकता भी सर्वसाधारण में बढ़ गयी है। इस परिस्थिति से लाभ उठाना पूँजीपतियों के लिए स्वाभाविक था। इसी का फल है कि आज कई दैनिक पत्र पूँजीपतियों ने खरीद लिए हैं। इनके लिए नये पत्रों की स्थापना कठिन होती है, क्योंकि जनता में इनकी साख नहीं है। जनता तो राष्ट्रीय विचारों का ही स्वागत करती है। इसलिए ये पुराने पत्रों को, जिनकी प्रतिष्ठा कायम हो चुकी है, खरीद लेते हैं और ऐसे ही सम्पादकों को नियुक्त करते हैं, जो राष्ट्रीय विचार के माने जाते हैं। इनकी नीति भी राष्ट्रीय होती है, क्योंकि यदि वे ऐसा न करें तो उनका पत्र लोकप्रिय न हो। पुनः राष्ट्रीय नीति को अपनाने में इनका हर तरह से लाभ ही है, क्योंकि उसके सफल होने से भारतीय उद्योग-व्यवसाय ब्रिटिश पूँजी से स्वतन्त्र होता है और उसको प्रसार के लिए अवकाश मिलता है तथा वे जनता का सद्भाव भी प्राप्त करते हैं। किन्तु वे अपने पत्रों द्वारा अपने वर्ग के हितों का अनेक प्रकार से समर्थन भी करते रहते है। उग्र राजनीति से वे सदा घबराते हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौते के अवसरों को कभी नहीं खोते। नेताओं का आशीर्वाद प्राप्त करने की इनकी सदा चेष्टा रहती है और उन पर समय-समय पर ये अपना प्रभाव भी डालते रहते हैं। आजकल अपने देश में कुछ प्रमुख पूँजीपतियों के अपने पत्र है। इनको एक पत्र से सन्तोष नहीं है। एक-एक के पास तीन-तीन चार-चार पत्रों की लड़ी है। बिड़लाजी 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'लीडर' और 'सर्चलाइट' के मालिक हैं, हिन्दी में 'हिन्दुस्तान' और 'भारत' इनके पत्र हैं। डालमिया साहब भी धीरे-धीरे पत्रों के मालिक होते जा रहे हैं। बम्बई का 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' और दिल्ली का 'नेशनल काल' इन्होंने खरीद लिया है। दक्षिण में गोयनकाजी का 'इण्डियन एक्सप्रेस' और 'दिनमणि' (तमिल) है। कलकत्ता से भी इण्डियन एक्सप्रेस का एक संस्करण निकलता है। दूसरे दर्जे के व्यवसायी भी, जो राजनीति में कुछ रस लेते हैं, इस ओर अग्रसर हो रहे है। सिद्दीकी साहब का मुसलिम लीगी पत्र,

'मोर्निग न्यूज' कलकत्ते से निकलता है। उनके पास यदि पत्रो की लडी नही है तो वह कम-से-कम एक पत्र तो अपना अवश्य रखना चाहते है। आजकल बिना अच्छी पूँजी के दैनिक पत्र नही चल सकते। पूँजीपतियों ने दैनिक पत्रों का स्टैण्डर्ड काफी ऊँचा कर दिया है। उनमें समाचार और लेख पर्याप्त मात्रा मे रहते है, मैगजीन सेक्शन भी रहता है। यदि पुराने पत्र अपने स्टैण्डर्ड को ऊँचा न करें और इन विशेषताओं को न अपनावें तो वे चल नही सकते। पूँजी की कमी से वह ऐसा प्राय: कर नही पाते है और इसलिए वे पूँजीपतियों के हाथ में चले जाते हैं।

यह तो आज की अवस्था है। अभी बहुत कम पत्र पूँजीपतियो के अधीन हुए है। पर ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार होता जायगा, त्यों-त्यों अधिकाधिक पत्र पूँजीपतियो के हाथ में चले जायेंगे और जब देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी, तब हमारे देश में भी 'प्रेस मैगनेट' तैयार हो जायेंगे। उस समय पत्रों का रूप और उद्देश्य एकदम बदल जायगा। स्वतन्त्र होने की प्रेरणा तो रहेगी नहीं। नये आधार पर दलों की सृष्टि होगी और नये प्रश्न सर्वसाधारण के सामने होंगे। आर्थिक प्रश्नो का महत्त्व बढ़ जायगा। पूँजीपतियों के गुट अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए लोकमत को तथा देश की गवर्नमेंट को प्रभावित करेंगे। शिक्षा के प्रसार के कारण पाठको की संख्या नित्य बढ़ती जायगी और उनकी पिपासा की तृप्ति करने के लिए समाचार-पत्रों की सख्या भी बढ़ेगी। अनिवार्य शिक्षा के फलस्वरूप जनता में समाचार जानने की उत्सुकता तो बढ़ेगी, किन्तु अपने स्वल्प ज्ञान के कारण वह उन समाचारों के महत्त्व को आँक न सकेगी। उस समय विचारकों और राजनीतिज्ञो के पत्रो के ग्राहक अपेक्षाकृत कम होंगे। व्यापारियो को अच्छा मौका मिलेगा और व्यापारियो के पत्र अधिकाधिक प्रकाशित होने लगेंगे, जिनका एकमात्र ध्येय जनता को अपनी ओर आकृष्ट करना होगा। जनता को राजनीति में केवल समाचार से ही रुचि होती है। उनकी विशेष अभिरुचि युद्ध के समाचार, पुरुष-स्त्री के सम्बन्ध के किस्से, खेल-कूद तथा अपराध के समाचारों में होती है। इसलिए ऐसे पत्रों में ऐसे समाचार काफी रहते है। सस्ती कहानी और कविता भी लोकप्रिय होती है। अत: जनता को सुरुचिपूर्ण साहित्य देना तथा सार्वजनिक प्रश्नों पर मत निश्चित करने में उनकी सहायता करना इन पत्रों का लक्ष्य नहीं होगा। हमारे देश में ऐसा समय शीघ्र आने वाला है।

इंगलैंड का उदाहरण हमारे सामने है। वहाँ १८८० में पहला कानून पास हुआ था, जिसके द्वारा शिक्षा सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य की गई थी। इस कानून के प्रयोग में आने से कुछ वर्षो के अनन्तर समाचार पढ़ने वालों की संख्या में वृद्धि हुई और लार्ड नार्थ क्लिफ ने इस नये वर्ग की मनोवृत्ति का अध्ययन कर उसकी अभिरुचि के अनुकूल पत्र निकाला। उन्ही के अनुसार उनका उद्देश्य शुद्ध व्यापारी था। अपने मालिकों को (वोटरों को) शिक्षित करने के लिए १८७० का

कानून पास हुआ था किंतु शासक वर्ग इतना ही चाहता था कि मतदाता लिख पढ़ सके और कुशल मजदूर बन सकें अपना मालिक बनाना तो उनके विचारों से बहुत दूर था। वह कहते थे कि मतदाता हमारे मालिक हैं, जिस प्रकार हम किसान को अन्नदाता कहते हैं।

नार्थ क्लिफ के विचार के पत्र-मालिक अपने बचाव में कहते हैं कि सर्व-साधारण जो चाहते हैं वही हम उनको देते हैं। हम सर्वसाधारण के लिए राज-नीतिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए नहीं हैं। इन पत्र-मालिकों का गठबन्धन विज्ञापन देने वाली फर्मों से हुआ और आपस के सहयोग से दोनों फलने-फूलने लगे।

इस परिवर्तन से पत्र जगत् में बड़ी हलचल मची। 'टाइम्स' और 'मैन्चैस्टर गार्जियन' अपना स्वरूप बदलने के लिए विवश हुए किन्तु उन्होंने अपने मूल ध्येय का परित्याग नहीं किया। अनेक पत्र बन्द हो गये या नये पत्र-व्यापारियों द्वारा खरीद लिए गये। पुराने स्वतन्त्र विचार के सम्पादक धीरे-धीरे लुप्त होने लगे, पत्रों पर व्यवस्थापकों का अधिकार हो गया। आज सम्पादक की अपेक्षा व्यव-स्थापक का स्थान ऊँचा है, उसी का अधिक मान और उसी का अधिक पुरस्कार है। कुछ पत्रों को जीवित रहने के लिए अपने ढंग को बदलना पड़ा। उनको आदर्श और व्यापार के बीच समझौता करना पड़ा। आज उन्हीं पत्रों की अधिक बिक्री है जिनमें अपराध, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध और खेल के समाचार अधिक रहते हैं। यद्यपि ये पत्र शुद्ध व्यापार की दृष्टि से चलाये जाते हैं तथापि इनकी सहानुभूति पूँजीपतियों के साथ होती है। अपने मालिकों के विशेष राजनीतिक विचारों को भी यह परिलक्षित करते हैं। धीरे-धीरे इनमें शक्ति के लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है और यह राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इंगितों से जनता के विचार कैसे मोड़े जा सकते हैं और उनके भावों का उद्रेक कैसे हो सकता है, इस शास्त्र में वे व्युत्पन्न होते हैं और राजनीति में वे अपने मानव ज्ञान का उपयोग करते हैं। अपने विज्ञापनदाताओं का भी इनको लिहाज करना पड़ता है क्योंकि इनकी आय का मुख्य स्रोत विज्ञापन ही है।

समाचार-पत्रों के क्षेत्र में भी एकाधिकार होता जाता है। आज का युग पूँजी के एकाधिकार का है। फिर पत्रों का व्यवसाय इससे कैसे बच सकता था? इंगलैंड के प्रेस मैगनेट कुछ थोड़े से पत्रों से सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने स्थानीय पत्रों पर भी धावा बोल दिया है। पत्र-व्यवसायियों के गुटों ने स्थानीय पत्रों में से बहुतों को खरीद लिया है। सबकी नीति लन्दन से निर्धारित होती है। आज केम्जले प्रेस का बोलबाला है। जहाँ जाइये, वहीं आपको इसका अखबार मिलेगा। यही अवस्था अमेरिका में होती जा रही है। अभी हाल में वहाँ की सिनेट ने एक कमेटी नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट है कि १९४१-१९४४ में केवल २ प्रतिशत फर्मों

में मजदूरों की पूर्ण संख्या का ६२ प्रतिशत काम करता रहा है और बड़े-बड़े व्यवसायियों का प्रेस पर अधिकार बढ़ता जाता है।

रिपोर्ट में कहा है कि "स्वतन्त्र रूप से आलोचना तथा अनुसन्धान का होना तथा विविध दृष्टियों का स्वच्छन्द रूप से व्यक्त होना लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। अतः हमको इस बात से चिन्ता है कि (१) हमारे नागरिक प्रायः एक ही दैनिक पत्र खरीद सकते हैं और (२) बहुतों के लिए यह पत्र एक ही पत्र-लड़ी की दृष्टि पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। यद्यपि समाचार-पत्रों की बिक्री क्रमशः बढ़ी है तथापि अमेरिका में पत्रों की संख्या विगत ३० वर्षों में तेजी से घटी है।...अब बहुत कम समुदाय ऐसे हैं जिनके समाचारों का एक से अधिक विवरण प्राप्त हो। अन्ततः समाचार-पत्रों के संग्रह करने का काम केवल तीन प्रेस-सर्विसों के हाथ में है और पत्र-प्रकाशकों ने रेडियो-क्षेत्र पर भी आक्रमण कर दिया है। सन् १९०९ में लगभग २,६०० दैनिक पत्र थे और २ करोड़ ४२ लाख प्रतियों की बिक्री थी, १९३२ में दैनिक पत्रों की संख्या घटकर १,७८६ हो गई किन्तु उनकी बिक्री की संख्या लगभग दुगुनी अर्थात् ४ करोड़ ३४ लाख हो गयी। आज तक इसी प्रकार पत्रों की संख्या का ह्रास तथा बिक्री की संख्या में वृद्धि होती गयी।" रिपोर्ट में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि पत्र-लड़ियों द्वारा नियंत्रित पत्रों की संख्या का अनुपात तेजी से बढ़ रहा है। सन् १९४० में इनके नियंत्रण में समस्त बिक्री का ४० प्रतिशत था और केवल १८१ ऐसे नगर थे जहाँ एक से अधिक पत्र पाये जाते थे जिनकी आपस में होड़ थी तथा ८८ प्रतिशत अमेरिकनों की बस्तियों को केवल एक ही पत्र नसीब होता था और इस प्रकार एक ही दृष्टि उनके सामने उपस्थित की जाती थी।

एकाधिकार के युग में प्रबल पूँजीवादी राष्ट्रों का यही हाल है। किन्तु ये राष्ट्र लोकतन्त्र के भी समर्थक हैं, चाहे यह लोकतन्त्र पूँजीवादी ही क्यों न हो। अतः इन देशों के विचारशील व्यक्ति इस अवस्था को देखकर लोकतन्त्र के भविष्य के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित हो गये हैं। उनका कहना है कि यदि लोकतन्त्र को विकृत होने से बचाना है तो प्रेस के सम्बन्ध में कुछ करना चाहिए। इसलिये इंगलैंड में पार्लियामेंट के कई सदस्यों ने प्रेस की जाँच करने के लिए एक कमीशन की माँग की है। कोई भी समाजवादी यह नहीं चाहेगा कि राज्य का प्रेस पर नियंत्रण हो। किन्तु आज की वहाँ की अवस्था भयावह है। जब तक इसमें परिवर्तन नहीं होता तब तक लोकतन्त्र खतरे में है। हमारी समस्या यह है कि हम किस प्रकार प्रेस की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हुए समाचार-पत्रों का सदुपयोग जनता की शिक्षा के लिए कर सकते हैं। हमको प्रेस को जनता की शिक्षा के लिए उत्तरदायी बनाना है और साथ-साथ प्रेस की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करनी है। हमको मनुष्य के उत्तम 'स्व' को जगाना है और आज जो व्यापारी पत्र मनुष्य की

अधम मनोवृत्ति को जागरूक करते है और उसकी कुरुचि को व्यापार के लाभ के लिए उत्तेजित करते हैं, उनको हमें रोकना है। हमको इसकी भी व्यवस्था करनी है कि जनता के सामने उभय पक्ष उपस्थित किया जा सके, जिसमें वह विचार कर उचित निर्णय पर पहुँच सकें, ऐसा नहीं कि केवल पूँजीपतियों का ही पक्ष उनके सम्मुख हो।

लार्ड नार्थ क्लिफ ने इंगलैंड के पत्र-जगत् में क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। किन्तु इधर सर्वसाधारण के लिए शिक्षा का मापदण्ड ऊँचा कर देने से तथा नागरिकों और सैनिकों में प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था कर देने से एक नवीन युग का आरम्भ हो रहा है। वहाँ जनता में उच्च शिक्षा के प्रचार मे वृद्धि होने से पाठको का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया है, जो केवल समाचारो से सन्तुष्ट नहीं है और जिसे सनसनीदार खबरें पसन्द नही है। वह देश-विदेश की समस्याओं और उलझनो को समझना चाहता है। उसमें छिछलापन नही है। वह युग की समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करना चाहता है। वह ऐसे ही पत्र पसन्द करता है जो इस कार्य मे उसकी सहायता करने की क्षमता रखते हो। किन्तु अभी व्यापारी पत्रो का प्रभाव कम नहीं हुआ है और नये प्रकार के पत्रों को प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे अभी समय लगेगा।

हमारे देश में नार्थ क्लिफ के युग की अभी सूचना ही मिली है, किन्तु प्राथमिक शिक्षा और प्रसार के साथ-साथ हमारे यहाँ भी वही अवस्था उत्पन्न हो जायेगी जो इंगलैण्ड मे उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे हुई थी। वहाँ की अवस्था नित्य बिगड़ती जाती है और आज इंगलैंड निवासी इस विषय में चिन्ता प्रकट कर रहे हैं। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम इंगलैंड के अनुभव से शिक्षा लें और अपने समाज को उन बुराइयों से बचाने का आज मे ही प्रयत्न करें।

केवल प्राथमिक शिक्षा से हमारा काम नही चलेगा। मौलिक शिक्षा की पद्धति को कार्यान्वित करने से ही हम मतदाताओं को इस योग्य बना सकते हैं कि वे प्रश्नो पर सूक्ष्म विचार करना सीखें। सच्ची लोकतन्त्र की स्थापना के लिए शिक्षित और सतत जागरूक जनता का होना आवश्यक है और यह उद्देश्य केवल लिखना-पढ़ना सिखा देने से सिद्ध नही होगा। जनता को सुसंस्कृत बनाने का महान उद्योग ही लोकतन्त्र की स्थापना में सच्चा सहायक हो सकता है। अभी हमको बहुमत का आदर करना सीखना है और सीखना है शान्ति के साथ वाद-विवाद करना और अपने निर्णयों मे तर्क और युक्ति को ऊँचा स्थान देना। जो राष्ट्र जात-पाँत के भेदों से जर्जरित हो रहा है और जिसका समाज ऊँच-नीच के भेद-भाव पर आश्रित है, उसके लिए जो कार्यक्रम बनाया जाय उसमे शिक्षा को उत्तम स्थान देना चाहिए। अब समय आ गया है जब हमारी आँखे अतीत से हटकर भविष्य की ओर होनी चाहिये। अतीत के बोझ से तो हम दबे जाते हैं। बुद्धिमान पुरुष मुर्दों

के लिए नहीं लड़ता। अब हम ऐसे कमजोर भी नहीं है जो हमको अतीत के गौरव के बल पर दुनिया की आँखों में अपने को ऊँचा उठाने की आवश्यकता हो। इस सम्बन्ध में कार्लमार्क्स ने लिखा था—

"क्या वह प्रेस, जिसका व्यापारिक लाभ के लिए संचालन होता है और जिसका इस प्रकार नैतिक पतन हो जाता है, स्वतन्त्र है? इसमें सन्देह नहीं कि लेखक को जिन्दा रहने और लिखने के लिए धन कमाना जरूरी है, किन्तु उसको धन कमाने के लिए ही जिन्दा रहना और लिखना नहीं चाहिए। प्रेस की पहली स्वतन्त्रता इसमें है कि व्यापार से उसका छुटकारा हो। जो लेखक प्रेस के पतन के लिये जिम्मेदार है और जो उसको अर्थ का दास बना देता है, दण्ड पाने के योग्य है और इस आरम्भिक दासता के लिए दण्ड वह बाह्य दासता है जिसे प्रेस का नियंत्रण कहते हैं अथवा कदाचित् उसका जिन्दा रहना ही उसका दण्ड है।"[1] (कार्ल मार्क्स, अर्ली राइटिंग्ज, पृ० ४०)

पूँजीवाद के आज के युग में पूँजीवादी राष्ट्रों में प्रेस की ऐसी ही दुर्दशा होगी। एकमात्र समाजवाद ही प्रेस की वर्तमान दासता को दूर कर सकता है। समाजवादी समाज में ही व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की संभावना है। आज के समाज में रुपये का बड़ा जोर है। मनुष्य की माप रुपये से होती है। यह सब बदलना है। समाज में जीवन के सच्चे सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है। जो लोग इष्टत्व-अनिष्टत्व की छानबीन कर सद्बुद्धि से प्रेरित हो कल्याणकारी कार्यों मे अग्रसर हैं वही पूँजीवाद के अभिशाप से समाज का परित्राण कर सकते है।

---

१. 'जनवाणी' दिसम्बर, १९४६

विचारकों के सम्मुख एक नई समस्या*

विश्वसमाज में आज केवल सामाजिक क्रान्ति ही नहीं हो रही है, किन्तु विश्व के विचारकों में भी एक आध्यात्मिक उथल-पुथल मची है। एटम बम के आविष्कार ने इन विचारकों को भविष्य के सम्बन्ध मे गम्भीरता के साथ विचार करने के लिए विवश कर दिया है। फासिस्टवाद और नाजीवाद के मौलिक आधार के अध्ययन ने भी भविष्य के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न कर दिया है। समाजवाद से जिनको बड़ी आशा थी, जिन्होंने रूस के समाजवाद मे अपने स्वप्नों को स्थूल रूप धारण करते देखा था और जो इस कारण स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के आदरणीय सदस्य हो गये थे, उनमें से कई विचारक रूस के समाजवाद का विकृत रूप देखकर इतने क्षुब्ध और निराश हुए कि वह रूस के कट्टर विरोधी बन गये और धीरे-धीरे उनमें से कुछ की धारणा हो गई कि मार्क्सवाद मे ही कोई ऐसा मौलिक दोष है, जिसके कारण यह विकार उत्पन्न हुआ है। महायुद्ध के बाद से एक निश्चित योजना के अनुसार अपने आर्थिक जीवन का संगठन करना प्रत्येक राज्य के लिए प्राय अनिवार्य-सा हो रहा है। इस अर्थनीति का परिणाम क्या होता है, इसको भी इन विचारकों ने रूस तथा जर्मनी में देखा है। उनका कहना है कि इस प्रकार की अर्थ-नीति का एक परिणाम यह होना है कि नौकरशाही का बाहुल्य हो जाता है तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक विभाग पर राज्य का नियंत्रण हो जाता है, जो लोकतन्त्र तथा मानव-स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त भयावह है। इन विचारको का कहना है कि यह अर्थनीति ही अधिनायकत्व को जन्म देती है।

आज का युग बहुसमाज का युग है। इस युग में समाज प्रसुप्त और निश्चेष्ट नहीं है। पूँजीवाद ने जनता के महत्त्व को बढ़ा दिया है। पूँजीवाद को अपने मुनाफे के लिए असंख्य मजदूरों को कल-कारखानों में लगाना पड़ा। धीरे-धीरे यह मजदूर अपनी संस्थाओं में संगठित होने लगे तथा अपनी माँगों को पूरा करने के लिए हड़ताल करने लगे। धीरे-धीरे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों ने उनको समाजवाद की विचारधारा दी और मजदूर वर्ग को ही इस नई विचार-पद्धति की मूल भित्ति

---

* जनवाणी, सितम्बर, १९४७

बनाई। पूँजीवाद के गर्भ से एक नए समाज की सृष्टि होने लगी। मजदूर समाज मजबूत होने लगा। रूस में मजदूरों की पहली सफल क्रान्ति हुई और इंगलैंड में मजदूरों का राज्य स्थापित हुआ। इन विशेष कारणों से यह स्पष्ट इंगित होता है कि एक युग की परिसमाप्ति और दूसरे युग का उपक्रम हो रहा है। अत. यह शती सामान्य जन की शती कहलाती है। आज बहुजन के हितों की उपेक्षा नही की जा सकती। आज जो कोई शासक हो उसे जनता के नाम पर ही शासन करना होगा। ऐसी परिस्थिति में जनता के विचारों से अवगत रहना तथा उनका नियंत्रण करना राज्य के लिए आवश्यक है। इसलिए जिस तरह कारखानो मे बड़े पैमाने पर विविध वस्तुएँ तैयार होती है, उसी तरह राज्य की ओर से विचार भी तैयार किये जाते हैं। ब्राडकास्टिंग पर राज्य का नियंत्रण इसीलिए होता है। आज सामाजिक नियंत्रण के लिए नये उपकरणो का प्रयोग करने के लिए राज्य बाध्य है। विज्ञान ने इन नए उपकरणों और साधनो को हमारे लिए उपलब्ध किया है। कई सामाजिक प्रणालियाँ प्रचलित हो गई है। यदि लोक-कल्याण के लिए इनका उपयोग किया जाये, तो समाज का मगल हो सकता है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि यह राज्य में असीम शक्ति को केन्द्रित कर देती हैं और यदि इनका दुरुपयोग हो तो अमंगल ही अमंगल है।

उदाहरण के लिए, रण-पद्धति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। नूतन अस्त्रों का आविष्कार हो गया है और नरसंहार अत्यन्त सुलभ हो गया है। इन आविष्कारों ने मुट्ठी-भर लोगों के हाथ मे शक्ति केन्द्रित कर दी है। जहाँ यह विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने में अधिक समर्थ है, वहाँ इन्ही साधनों से जनता के विप्लव को अधिक सुगमता से दबा सकते है।

कुछ विचारकों का कहना है कि यह सामाजिक प्रणालियाँ स्वत: न कल्याण करने वाली हैं और न अमंगल करने वाली है। जिनके हाथो में इन नवीन अस्त्रो का प्रयोग है, उनकी इच्छा पर यह निर्भर करता है कि इनका सदुपयोग होगा अथवा दुरुपयोग। किन्तु यह निश्चित नही है कि शासकों की इच्छा कैसी होगी। इस अनिश्चितता के कारण वह इन सामाजिक प्रणालियों के पक्ष मे नही हैं। इनका दुरुपयोग होते उन्होने देखा है। वह देखते हैं कि निश्चित योजना के अनुसार जो अर्थनीति निर्मित होती है उसकी दिशा अधिनायकत्व की ओर होती है। वह दोनों को कार्य कारण के रूप में देखते है। अत: वह इसको स्वीकार नही करते कि ऐसे उपाय भी हो सकते है, जिनका आश्रय लेकर हम इस अर्थनीति से लाभ उठाते हुए समाज की रक्षा उसके दोषों से कर सकते हैं। फासिस्टवाद की बर्बरता वह अपनी आँखों देख चुके है। संसार ने लोकतन्त्र की रक्षा के लिए एक महान युद्ध रचा और नाजी शक्ति का अन्त किया। अब वह यह चाहते हे कि समाज का एक ऐसा रूप हो जिसमें पुन. फासिस्टवाद का जन्म न हो सके। उनका विचार है कि जब तक

यह अर्थनीति रहेगी उसका भय पुनः-पुनः उपस्थित होता रहेगा।

यह विचारक इसलिए किसी निश्चित योजना के आधार पर किसी अर्थनीति का निर्माण नहीं चाहते। यह सबसे अधिक महत्त्व लोकतन्त्र, मानव-स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व की परिपूर्णता को देते हैं और क्योंकि इनके मत में ऐसी अर्थनीति इन सिद्धान्तों की पोषक नहीं है, वरंच उसके द्वारा इनको क्षति पहुँचती है। अत वह ऐसी अर्थनीति के विरोधी हैं। वह जानते हैं कि पूँजीवादी समाज मे विषमता और अस्तव्यस्तता रहती है, किन्तु इनके मत मे यह सब बर्दाश्त किया जा सकता है, यदि मानव-स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। इसी कारण कुछ विचारक स्वच्छन्द व्यवसाय के पक्षपाती है। अमेरिका का उदाहरण देकर वह यह सिद्ध करना चाहते है कि साधारण जन की आर्थिक अवस्था पूँजीवादी समाज मे भी उन्नत हो सकती है। उनका विचार है कि गैर सरकारी व्यवस्था अच्छी और सस्ती होती है और उससे स्वतन्त्रता की भी रक्षा होती है। इनका कथन है कि लोकतन्त्र का आधार आर्थिक क्षेत्र की स्वतन्त्रता ही है और यदि राज्य का नियन्त्रण आर्थिक क्षेत्र पर होता है तो उससे लोकतन्त्र का ह्रास होता है।

थोड़े-से ऐसे विचारको की दलीलों का खण्डन करना कुछ कठिन नही है। यह अवश्य सच है कि निश्चित योजना के आधार पर निर्मित अर्थनीति से लोकतन्त्र को भय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि इस भय के निराकरण का कोई उपाय नही है। पुनः जब यह स्पष्ट है कि आज के युग में ऐसी अर्थनीति को अपनाना अनिवार्य हो गया है, तो उसके दोषों के निरसन का उपाय सोचना ही पड़ेगा। हमारे मत में ऐसी अर्थनीति और लोकतन्त्र तथा मानव-स्वतन्त्रता के बीच सामजस्य स्थापित हो सकता है। इस सम्बन्ध में कई सुझाव रखे गए हैं। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनका केन्द्रीकरण नितान्त आवश्यक है। किन्तु अन्य व्यवसायो का विकेन्द्रीकरण होने से लोकतन्त्र को व्याघात नही पहुँचता। पुनः कार्पोरेशन तथा स्थानीय जनसंस्थाओं के अधीन व्यवसायों को ले कर लोकतन्त्र की रक्षा हो सकती हे। सहयोग समितियों द्वारा विविध छोटे व्यवसायों को संचालित करने से भी अधिनायकत्व का दोष बचाया जा सकता है।

पुनः सामान्य जनता लोकतन्त्र के महत्त्व को तभी समझ सकती है जब उसके रोटी-कपड़े का प्रश्न हल हो। अमेरिका का उदाहरण सर्वत्र लागू नही होता। वह लोकतन्त्र अधूरा है जो समाज की आर्थिक विषमता को दूर करने में असमर्थ है। जो तृप्त है, जिनके आगे कोई ऐसी कठिन आर्थिक समस्या नहीं है, वह अवश्य मानव-अधिकारों की स्वतन्त्रता का महत्त्व समझते है। किन्तु जो बेकार हैं अथवा आर्थिक कष्ट में है, वह केवल भाषण की स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट नही हो सकते। सामान्यजन की सांस्कृतिक उन्नति के लिए उसकी आर्थिक स्थिति की उन्नति आवश्यक है।

कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिनका विश्वास मनुष्य परसे उठ गया है। नैतिकता का ह्रास देखकर ही उनकी आस्था उठ गई है। पहले ईश्वर मे लोगो का अटल विश्वास था। विज्ञान ने इस विश्वास को खोखला बना दिया और १९वी शती मे मानव की प्रतिष्ठा हुई तथा जीवन में नए मूल्यों की स्थापना और जीवन के नए मूल्यो की सृष्टि हुई। इनमे ही मानव-स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र है। किन्तु संहार के नए साधनो के प्रयोग से तथा सत्य की अप्रतिष्ठा होने से हमारे आदर्श भी नष्ट हो रहे है। आज लोग यथार्थवाद की पूजा करते है और आदर्शवादियों को मूर्ख और पागल समझते है। परिस्थिति के अनुसार आचरण करना ही सबसे बडी बुद्धिमत्ता समझी जाती है; मानो जीवन का कोई गम्भीर उद्देश्य ही नही रह गया है! मानव-बुद्धि पर से इन विचारकों का विश्वास उठ-सा गया है और वह लोकतन्त्र को उचित प्रेरणा देने मे अपने को असमर्थ पाते हैं। इससे भी गम्भीर किसी आदर्श की उनको तलाश है। वह पुन: धर्म में शरण लेते हैं। यूरोप के विचारक ईसाई धर्म की पुन: स्थापना करना चाहते हैं। उनका विचार है कि ईसाई धर्म से ही लोकतन्त्र तथा समता के सिद्धान्त निकले है। अत: स्वभावत उनकी दृष्टि ईसाई धर्म की ओर जाती है। पोप के शासन मे शान्ति भी थी और विविध राज्यों के बीच मैत्री भी। आज वह देखते है कि विविध राज्य एक-दूसरे के वैरी हैं और वह यह भी समझते हैं कि किसी एक राज्य का समस्त संसार पर आधिपत्य कायम करके विश्व-शान्ति नहीं हो सकती। अत: वह पोप का शासन फिर से प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। कुछ विचारक अध्यात्मवाद में ही शान्ति पाते है।

हमारे मत में मानव के ऊपर इतना अविश्वास करने का कोई कारण नही है। जीवन के नए सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त हैं। इन मूल्यों पर जिनका अटल विश्वास है वह उन पर उसी प्रकार दृढ रह सकते हैं, जिस प्रकार धार्मिक व्यक्ति दु:ख-यातना भोगते हुए भी अपने धार्मिक विश्वास पर अटल रहता है। आज के युग में सामाजिक अवस्था का पूर्ण परिचय प्राप्त कर रचनात्मक क्रान्तिकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने की क्षमता रखनेवाला व्यक्ति ही कुछ कर सकता है। सामाजिक संगठन में बिना महान परिवर्तन किये हमारा जिन्दा रहना भी कठिन है। समाज के प्रश्न धर्म के दामन में मुँह छिपाने से हल नहीं होंगे। समाज की उन्नति करने का एक वैज्ञानिक तरीका है। उसको अपनाना होगा। पोप का शासन फिर से प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। हाँ, उसके प्रभाव का दुरुपयोग प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ आज भी कर रही है। इस विज्ञान के युग में रहस्यवाद की प्रतिष्ठा करना कठिन है। विज्ञान का सदुपयोग कीजिये; समाज में आदर्शों की प्रतिष्ठा कीजिये: मनुष्य के चारित्र्य की ओर ध्यान दीजिये न कि विज्ञान को छोड   बातों को फिर से

जिन्दा कीजिये ! मनुष्य के चारित्र्य पर उसकी परिस्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है, किन्तु व्यक्तिगत चरित्र के गठन की ओर भी ध्यान देना चाहिए। विद्याचरण-सम्पन्न व्यक्ति ही समाज का सच्चा नेतृत्व कर सकते हैं। सामाजिक प्रणालियाँ स्वतः कुछ नहीं कर सकती, जब तक उनको कार्यान्वित करने वाले सर्वभूतहितरत नहीं होते, सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल प्राणी होने से ऐसे व्यक्तियों की समाज में वृद्धि होगी। जब सामाजिक स्थिति जटिल होती है तभी उसको सुलझाने के लिए महापुरुष जन्म लेते है और आर्त जनता उनका स्वागत करने के लिए तैयार होती है। आज का विचार-विमर्श तथा स्थिति को सुधारने के लिए बताए गये अनेक सुझाव इस बात को दिखाते हैं कि समाज के हृदय का मन्थन हो रहा है। समस्या उत्पन्न हो गई है, उसका हल भी हमको प्राप्त होगा। हम आज अन्धकार में टटोल रहे है, किन्तु प्रकाश भी अवश्य दिखाई देगा और समाज का अन्त में निस्तार होगा। किन्तु आज तक जो उन्नति हुई है, उसको ताक पर रखकर नहीं, वरंच उसका उत्तम उपयोग करके ही हमारा अभीष्ट सिद्ध होगा।

सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न

संसार के कई भागों में लिखने, बोलने और संगठन करने की स्वतन्त्रता नहीं है, और यह कहना गलत है कि रूस ने ही ऐसा करने का ठेका ले रखा है। इङ्गलैण्ड की परम्परा ही ऐसी रही है कि वहाँ के नागरिकों को ये सब स्वतन्त्रताएँ प्राप्त रही हैं। अमरीका में भी कुछ हद तक ऐसी स्वतन्त्रता रही है, किन्तु वहाँ अब यह संकुचित होती जा रही है। युनिवर्सिटियों से विचार-स्वतन्त्रता धीरे-धीरे छीनी जा रही है, वहाँ कम्युनिस्टों को ढूंढ-ढूंढ़कर उन्हें पदच्युत किया जा रहा है। शिक्षा-संस्थाओं की स्वतन्त्रता विलुप्त हो रही है। जनतन्त्र के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार की विचारधाराएँ रह सकती है जो परम्परानुकूल न हों, अधिकारियो के विरुद्ध हों। किन्तु वहाँ अब कम्युनिस्ट विचार अनमरीकी घोषित कर दिया गया है। इसका प्रभाव इङ्गलैण्ड पर भी पड़ा है। वहाँ भी धीरे-धीरे स्वतन्त्रता मे कमी हो रही है। वहाँ भी विदेशों मे होनेवाले सम्मेलनों में भाग लेने पर रोक लगायी जा रही है। अभी तक रूस ही अपने यहाँ के वैज्ञानिकों को, विद्वानों को बाहर के सम्मेलनों में जाने से रोकता रहा है। इधर चीन भी रूस का पदानुसरण कर रहा है। पेकिंग युनिवर्सिटी के अध्यापकों को दीक्षित करने का आदेश दिया गया है। उन्हें भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पढ़ना पड़ता है। उनके लिए मार्क्सवाद की शिक्षा आवश्यक कर दी गयी है। इस प्रकार रूसी घेरे में विचार-स्वातन्त्र्य का अभाव है, पर अमरीका में पूर्ण विचार-स्वतन्त्रता है, यह समझना गलत है। अमरीका में भी अब रोकथाम शुरू हो गयी है, अन्य विचारों को उतनी स्वतन्त्रता नहीं रह गयी है। ऐसे लोग सरकारी नौकरियों से हटाये जा रहे हैं, सन्दिग्ध व्यक्तियों का पता लगाने के लिए आदेश दिये गये है। किन्तु भारत में इसके उदाहरण स्वल्प हैं। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि हमारे देश में लिखने या बोलने की स्वतन्त्रता नही है। यहाँ यह अजीब प्रश्न है। किन्तु अभी विधान में संशोधन हुए हैं, पहले की नागरिक स्वतन्त्रता पर रोकथाम लगायी गयी है। इधर विचार-स्वातन्त्र्य को रोकने की चेष्टा हो रही है। परन्तु ऐसी रोकथाम की कुछ राजाज्ञाएँ प्रत्येक देश में जारी रहती हैं। इसको लेकर विचार-स्वातन्त्र्य का

आन्दोलन करने की स्थिति नहीं है। ऐसे आन्दोलन की जरूरत रूस, यूरोप, अमरीका में होनी चाहिए। अगर देश में अधिनायकतन्त्र हो तो इस आन्दोलन का विशेष महत्त्व होता है क्योंकि उसमें भाषण, लेखन तथा संगठन की स्वतन्त्रता बिल्कुल नही रहती है। आज हमारे देश में फासिस्ट राज नहीं है, नागरिक स्वतन्त्रता पर कुछ नियन्त्रण लगा दिये गये हैं, पर इतने से ही फासिज्म नही आ जाता। इसलिए हमारे देश के साहित्यिकों में सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की चर्चा कुछ कृत्रिम-सी है। पाश्चात्य देशों में जहाँ ऐसी स्वतन्त्रता पर रुकावटें हैं वहाँ ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता है। अगर हमारे देश में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है तो यहाँ भी उसकी आवश्यकता पड़ेगी।

इस प्रसंग में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता बेजोड़ नही हैं। दोनों में निरन्तर सम्बन्ध हैं, उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता है। जीवन का विभाजन नही किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी राष्ट्र की आन्तरिक और वैदेशिक नीति में सर्वथा अलगाव नही हो सकता है। उन दोनों में असामञ्जस्य हो सकता है और इसके अनेक कारण हैं। इंगलैण्ड में ही आन्तरिक नीति काफी प्रगतिशील है, पर वैदेशिक नीति पुरानी, कंजरवेटिव पार्टी की ही है। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। जीवन सरल रेखा नहीं, उसकी गति टेढ़ी-मेढ़ी होती है। सामान्यतः दोनों नीतियों में सामंजस्य होना चाहिए, एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ आर्थिक जनतन्त्र हो वहाँ राजनीतिक जनतन्त्र न हो, ऐसा मैं नही मानता। इसके विपरीत रूस में भी यही बात सत्य है। समाजवाद ही पूर्ण जनतन्त्र है, बाकी सब अधूरा है। राजनीतिक जनतन्त्र की मजदूर वर्ग को बहुत बड़ी आवश्यकता है, अन्यथा जर्मनी, इटली में फासिज्म के विरुद्ध सभी प्रगतिशील शक्तियों का संयुक्त मोर्चा न बनता। पूँजीवाद में राजनीतिक जनतन्त्र और समाजवाद में केवल आर्थिक जनतन्त्र है, ऐसा कहना भ्रामक है। अमरीका और रूस में विरोध होने पर दोनों प्रकार के जनतन्त्र को एक-दूसरे का विरोधी कहना गलत है। आज विश्व में कहीं पूर्ण जनतन्त्र नही है। लेनिन ने रूस मे जनतन्त्र को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित किया, किन्तु धीरे-धीरे वह सीमित होता गया। औद्योगिक जनतन्त्र, विधान में निःशुल्क शिक्षा आदि की जो व्यवस्था थी, उसमे परिवर्तन हो गया। लेनिन के बाद धीरे-धीरे नियन्त्रण शुरू हो गया। लेनिन ने स्वयं लिखा है कि जहाँ राजनीतिक जनतन्त्र नही है वहाँ आर्थिक जनतन्त्र भी विकृत हो सकता है। वास्तव में साम्यवादी देशों में दोनों प्रकार का जनतन्त्र होना चाहिए, किन्तु रूस मे ऐसा न होने के कारण दोनों में स्वाभाविक विरोध होने की आशंका उत्पन्न होती है।

किन्तु हमारे देश में इस प्रश्न को महत्त्व देना कृत्रिम है। यहाँ दोनो के लिए एक ही साथ, युगपत् प्रयत्न होना चाहिए, दोनों मे कोई विरोध नही है। इसीलिए

समाजवादी पार्टी दोनों पर जोर देती है क्योंकि आगे चलकर कहीं एक जनतन्त्र हो, पर दूसरे का लोप न हो जाय। अतएव दोनों पर समान रूप से जोर देना आवश्यक है, किन्तु यूरोप, अमरीका के कारण यहाँ भी ऐसी चर्चा खड़ी हो गयी है। एक देश की चर्चा का दूसरे में अन्धानुकरण होने लगता है। हमारे देश मे रोटी का सवाल सबसे महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक स्वतन्त्रता कुछ मात्रा मे उपलब्ध है, उसकी अभिव्यक्ति में प्रायः कोई बाधा नहीं है। अगर संसार में ऐसा कोई बड़ा आन्दोलन खड़ा होता है तो उसकी चर्चा यहाँ अवश्य होनी चाहिए, पर यह स्पष्ट है कि भारत से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। विश्व में इस समय विचार-स्वातन्त्र्य में काफी कमी हो रही है, हमें इस खतरे से आगाह अवश्य करना चाहिए। पाश्चात्य देशों में कहा जा रहा है कि एशिया में भी विचार-स्वातन्त्र्य का खतरा उपस्थित हो गया है। वे लोग एशिया को इस भुलावे में डालना चाहते हैं कि यहाँ कम्युनिज्म आ जाने से स्वतन्त्रता नहीं रह जायगी। यह उनका गुह्य उद्देश्य रहता है, किन्तु यहाँ जो रोटी के प्रश्न को हल करेगा वही स्वतन्त्रता के प्रश्न को भी हल करेगा। अगर जनतन्त्र के प्रति, विचार-स्वातन्त्र्य के प्रति विशेष आग्रह है तो वह रोटी के सवाल से ही हल हो सकता है। कोई विचारों की बाढ़ को अमरीकी डालर से, पश्चिम की सहायता से रोकना चाहे तो मूर्खता है। च्यांग काई शेक को सब कुछ सहायता दी गयी, पर वे अपनी रक्षा न कर सके। विचारो की बाढ़ सब बाँधों को तोड़कर बह जाती है। एशिया में समाजवाद की स्थापना से रोटी का प्रश्न और जनतन्त्र की समस्या, दोनो हल होंगी। पूँजीवाद में इस बाढ़ को रोकने की शक्ति नही। भूखों के लिए विचार-स्वातन्त्र्य का मूल्य नहीं, अपढ़ के लिए लेखन-स्वातन्त्र्य का क्या महत्त्व? विचार-लेखन के स्वातन्त्र्य की पेट भरने पर आवश्यकता होती है, फिर भी यह निम्न-मध्यम वर्ग की आवाज है और इसका कम महत्त्व नहीं। नवीन विचार, नवीन दर्शनों की सृष्टि वे ही लोग करते हैं। मैं उनकी माँग का उपहास नहीं कर सकता। वे ही लोग इस काम को कर सकते हैं। जब साधारण जनता की पेट की भूख तृप्त होगी तो उसमें भी इसकी भूख पैदा होगी और यह सर्वथा उचित है। एशिया में पहला प्रश्न आर्थिक स्वतन्त्रता का है, पर विचार-स्वतन्त्रता को ताक पर न रखिये। समाजवाद मे आर्थिक और राजनीतिक— दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

जहाँ तक व्यक्ति और समाज का प्रश्न है, मैं दोनो को मानता हूँ। अगर व्यक्ति समाज में न रहे तो दया, सेवा, उदारता का भाव ही नहीं रह सकता। जंगल में इन मूल्यों का विकास नहीं हो सकता है। वनवासियों की दृष्टि में इनका विशेष महत्त्व नहीं। दूसरी ओर व्यक्ति समाज में उत्पन्न होता है, पर प्रकृति की स्वयं एक शक्ति होने के कारण वह प्रकृति तथा समाज को बदल सकता है। वह एक चिन्तनशील प्राणी है। अतीत को धारण करता और भविष्य की कल्पना कर सकता है व्यक्ति

एक क्रियाशील शक्ति होने के कारण परिस्थिति को बदलते हैं, पर दोनों की मर्यादा है। अगर हम परिस्थितियों का इतना भाग मान लें कि हम उनके दास हैं तो हम कुछ नहीं कर सकते। पर मनुष्य ने उस पर कितना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। दूसरी ओर समाज के सामुदायिक बन जाने पर उसके भी कुछ अधिकार हो जाते हैं जिसे व्यक्ति को मानना पड़ता है। दोनों में स्वच्छन्दता नहीं चल सकती है। दोनों की मर्यादा स्वीकार करने पर ही व्यक्ति का विकास हो सकता है तथा समाज की रक्षा हो सकती है। हाँ, व्यक्ति को समाज का कलपुर्जा नहीं बनाया जा सकता।

स्याम और बर्मा के कुछ संस्मरण*

प्राचीनकाल में भारतीय विचारधारा का दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। वस्तुतः इन देशों की सभ्यता की उन्नति का कारण अधिकांशतया हिन्दुस्तान ही है। शिक्षित स्यामी तथा बर्मी इस सांस्कृतिक ऋण को बिना किसी हिचक के स्वीकार करते हैं। यह सच है कि ब्रिटिश शासनकाल में बर्मा के अन्दर भारतीयों के विरुद्ध तीव्र भावना रही है। इसका कारण ब्रिटिश शासन की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति थी, किन्तु दोनो देशो द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर यह विरोध-भाव काफी हद तक शान्त हो गया है और भारत-बर्मा के मैत्री-सम्बन्ध में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ है; किन्तु यह समझना भूल है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के साथ हमारे सम्बन्ध सदैव सद्भावपूर्ण ही रहेंगे, क्योंकि हम लोग बहुत घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध-सूत्र मे बँधे हुए हैं। इतिहास में एक ही संस्कृति के अन्तर्गत गृहयुद्ध के प्रभूत दृष्टान्त मिलेंगे। किसी देश के दृष्टिकोण तथा उसकी नीति पर उसके राष्ट्रीय स्वार्थो का मुख्य प्रभाव पड़ता है। इसमे सन्देह नहीं कि हम लोगों के लिए इन देशों के अन्दर सांस्कृतिक क्षेत्र में पहले से ही अन्य देशों की अपेक्षा अधिक अनुकूल परिस्थिति है और इसीलिए हिन्दुस्तान के साथ परस्पर सद्भाव बनाये रखना अधिक सरल है। इसमें भी तनिक सन्देह नहीं कि नयी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हम लोगों को पारस्परिक सहायता की इस समय जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नही थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया सामरिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण प्रदेश है और विश्वके प्रमुख देश अब इस पर काफी ध्यान देने लगे हैं। जब मैं बैंकाक गया था तो संयुक्त राज्य अमरीका के पारिव्राजक राजदूत श्री जेसप ने वहाँ उस प्रदेश के अमरीकी राजदूतों का एक सम्मेलन बुलाया था। आस्ट्रेलिया, हिन्देशिया और बर्माके लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दुस्तान के साथ उनके जीवन-मरण क सम्बन्ध है। इन देशों के नेता वर्तमान स्थिति को भलीभाँति समझने लगे हैं। आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालयों में भारत विषयक अध्ययन पर विशेष जोर दिया

* जनवाणी सितम्बर १९५१

आ रहा है। स्याम और बर्मा में [illegible] के अध्ययन-क्रम में भारतीय इतिहास को मुख्य स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त स्याम में कला विभाग के प्रत्येक विद्यार्थी को हाईस्कूल के स्तर तक की संस्कृत सीखना अनिवार्य है। बर्मा संघ के विधान में राज्यनीति के निर्देशित सिद्धान्तों में यह भी कहा गया है कि पाली और संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करना राज्य का कर्तव्य है, किन्तु हम भारतीय अपनी शिक्षा-संस्थाओं में उन देशों के सम्बन्ध में अध्ययन पर कुछ जोर नहीं दे रहे हैं। यहाँ तक कि विदेशों मे भारतीय संस्कृति के प्रसार की मनोहर कहानी को भी पाठ्यपुस्तकों में उचित स्थान नहीं दिया गया है।

सौभाग्यवश स्याम ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता बनाये रखी और उसने फ्रांस और ब्रिटेन के संघर्ष को सफलतापूर्वक बचाये रखा, किन्तु वह आर्थिक क्षेत्र मे अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सका। स्याम मे कुछ ही उद्योगधन्धे हैं और वे सब विदेशियों के हाथ मे है। वहाँ के व्यवसाय पर चीनियों का आधिपत्य है। आर्थिक ढाँचा आदिम कृषि-अर्थनीतिक है। देश की जनसंख्या कम है। ७० प्रतिशत भूमि जंगली है और केवल १२ प्रतिशत भूमि कृषि के उपयोग मे लायी गयी है। वहाँ जीविकोपार्जन सरल है और जीवन-स्तर पड़ोसी देशो से कुछ उच्चतर है। बैंकाक में भिखमंगे नहीं दिखायी देते, किन्तु धनिकों की संख्या भी बहुत कम है। राजनीतिक जीवन-स्तर अत्यन्त निम्न है और यद्यपि स्याम मे वैधानिक नृपतन्त्र है, किन्तु फिर भी जनतन्त्र हास्यास्पद है। नेताओं के हिसाब से दल संगठित हैं। ट्रेड यूनियनों पर सरकार का नियन्त्रण है। किसानों का कोई सगठन नहीं है। मध्य स्याम मे किसान ही जमीन के मालिक हैं, किन्तु कुछ भागो मे मध्यवर्ती जमींदारो का एक वर्ग भी उत्पन्न हो गया है। स्यामी भाषा में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। और सभी नये शब्द सीधे पाली अथवा संस्कृत से, साधारणतया संस्कृत से लिये जाते हैं। अनेक स्यामी नाम संस्कृत भाषा के सुन्दर नाम हैं। लिपि का मूल भी भारतीय है, किन्तु शब्दों का उच्चारण भिन्न होता है। उन लोगों ने कुछ हद तक चीनी उच्चारण को भी अपना लिया है। राज का प्रतीक गरुड़ है तथा रामलीला का बहुत प्रचार है। यह भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव का एक और प्रमाण है, किन्तु स्यामियों की राम-कथा कुछ भिन्न है। इसे वहाँ की भाषा में रामाकीन कहते है। जहाँ कही भी भारतीय सभ्यता का प्रसार हुआ, उसके साथ यहाँ के महाकाव्य भी गये। जैसे स्याम मे रामायण लोकप्रिय है वैसे ही हिन्देशिया में महाभारत, हालाँकि हिन्देशिया की जनसंख्या मुख्यतः मुसलिम है। स्यामी कला पर भी भारतीय कला की बहुत बड़ी छाप पड़ी है। वहाँ की जनता हीनयान के बौद्धधर्म को मानती है जिसके धर्मग्रन्थ पाली में हैं। स्याम में अब भी अनेक भारतीय रीति-रिवाज प्रचलित हैं। स्यामी मुर्दों को जलाते हैं, किन्तु वे चारों ओर चीनियों से घिरे हुए हैं और चीनी पितृ-पूजा को इतना अधिक महत्त्व

देते हैं कि वे दाह-संस्कार को अपावन कर्म मानते हैं, इसलिए स्यामियों ने भी मध्यम मार्ग को अपनाया है और एक पक्ष से लेकर तीन मास के अन्तर्गत पितरों की पूजा कर उनका दाह-संस्कार करते हैं। राजा का दाह-संस्कार एक वर्ष या इतने ही कुछ समय मे होता है। वे हिन्दुओं की भाँति धोती पहनते थे, किन्तु इधर हाल में धोती का चलन करीब-करीब उठ गया है। नमस्कार करने का तरीका भी हिन्दुओं की तरह है। राजकीय पुरोहित एक भारतीय ब्राह्मण है। वह राजकीय उत्सवों का इंचार्ज होता है। उसके परिवार का एक मन्दिर भी है जिसमे विष्णु, शिव और गणेश की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। पुरोहित शिखा रखता है, किन्तु यज्ञोपवीत नही धारण करता। यज्ञोपवीत केवल किसी उत्सव के अवसर पर ही पहनता है। उसके परिवार के पास प्राचीन दक्षिण भारतीय लिपि में लिखे हुए कुछ संस्कृत के हस्तलेख हैं जिनमे विभिन्न राजकीय उत्सवों का वर्णन है। राजतिलक वैदिक विधि से होता है। पुरोहित संस्कृत नहीं जानता है, किन्तु वह स्मरण-शक्ति द्वारा मन्त्रों का पाठ करता है और उसका उच्चारण स्यामी होता है। वह अब भी धोती पहनता है और उसको कोई रंगीन वस्त्र धारण करने का विधान नही है। वहाँ चावल और मछली जनता का मुख्य भोजन है। वे गोमांस को वर्जित नहीं मानते, किन्तु ब्राह्मण पुरोहित विवेकपूर्वक गोमांस को बचाता है, हालाँकि अन्य लोगों की भाँति वह भी मांस और मछली ग्रहण करता है।

मुझे राजभवन जाने का अवसर मिला और तस्वीरों की गैलरी में दीवारों पर मैंने रामायण के विभिन्न दृश्यों के चित्र टँगे देखे। बौद्ध मठ और मन्दिर बहुसंख्यक है जिनमें पन्ने का बना बौद्ध मन्दिर सर्वप्रसिद्ध है। स्याम मे परम्परागत प्रत्येक स्यामवासी को, भले ही अल्पकाल के लिए क्यों न हो, भिक्षु बनना पड़ता है। यहाँ की प्राचीन राजधानी अयुध्या थी जिसे बर्मनों ने नष्ट कर दिया। फलत: उसे त्याग देना पड़ा। यहाँ के राजकुल में अनेक राजाओं के नाम राम के नाम पर रखे गये थे।

स्यामवासी बड़े ही प्रसन्नचित्त व्यक्ति होते हैं और सौन्दर्य तथा कला से भी उन्हें प्रेम है। बौद्धधर्म उन्हें निराशावादी अथवा इस जगत् से परे का सोचने वाला नहीं बना सका है। भिक्षुओं का बड़ा ही आदर किया जाता है और देश-भर की नि:शुल्क यात्रा करने की सुविधा उन्हें प्रदान की जाती है। भिक्षु अपनी मर्यादा का पालन करते है और बौद्धधर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुरूप किसी से भोजन या वस्त्र मुख से बोलकर नहीं माँगते। वे प्रतिदिन के कार्यक्रम के अन्तर्गत शान्ति-पूर्वक द्वार-द्वार घूमते है और न मिलने पर पुन: आगे बढ़ जाते है।

भारतीयों की एक छोटी टुकड़ी बैंकाक में रहती है। वे या तो दरबान हैं अथवा ग्वाले या वस्त्र-व्यवसायी। उनकी संख्या लगभग ८,००० होगी। स्वामी सत्यानन्द पुरी द्वारा स्याम-भारत सांस्कृतिक भवन की स्थापना की गयी है।

सबसे दुःख की बात यह है कि यहाँ के भारतवासी सभी अशिक्षित हैं। स्याम स्थित भारतीय दूतावास के सदस्य ही केवल शिक्षित कहे जा सकते हैं।

भारत लौटते समय पाँच दिनों के लिए मैं रंगून में रुका और प्रमुख सरकारी सदस्यों, सोशलिस्ट पार्टी के लोगों और भारतीयों से मिला। गत महायुद्ध तक रंगून एक भारतीय नगर की नाईं था। नगर के साठ प्रतिशत निवासी भारतीय थे, किन्तु परिस्थिति में अब तीव्र गति से परिवर्तन होता जा रहा है। यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्र बर्मा में अब इन्हें न तो पूर्ववत् विशेषाधिकार प्राप्त रह सकता है और न बर्मावासियों को शोषण करने का अवसर ही दिया जा सकता है। अतः बर्मा में बसे हुए भारतीयों को चाहिए कि वे अपने को वहाँ की परिस्थिति के अनुरूप बना लें और वैसे विशेषाधिकारों को प्राप्त करने की चेष्टा न करें जो बर्मावासियों के लिए भी उपलब्ध नहीं है। यदि वे बर्मा में रहना ही चाहते हैं तो उन्हें वहाँ का नागरिक बन जाना चाहिए और इसी में उनका लाभ भी है। बर्मा के संविधान में भारतीयों के प्रति भेद की नीति नहीं बरती गयी है और मेरा विश्वास है कि यदि भारतीयों ने अपने को वहाँ के अनुरूप ढाल लेने की कोशिश की तो अब भी वे देश की अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय स्वभाववत् अल्पव्ययी और परिश्रमी होते हैं और यदि वे इतना जान जायें कि जीवन-स्तर किस प्रकार ऊपर उठाया जाता है तो वे केवल सुखी नहीं वरन् अपने को सम्मानित भी बना सकते हैं। अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि अनेक भारतीय नेताओं का वहाँ के सरकारी सदस्यों से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। देश की परिवर्तित स्थिति को बर्मा भारतीय कांग्रेस के नेताओं ने जिस रूप में ग्रहण किया है उसके लिए मैं उन्हें बधाई देना चाहता हूँ। उन्होंने चेटियरों के मामले को सुनने से इन्कार कर दिया है। बर्मा में चेटियरों का एक वर्ग है जो महाजनी कारोबार करता है। और जमींदार भी हैं। इन लोगों ने अनुचित सूद-खोरी तथा भूमि के अन्यायपूर्ण पट्टे के लालच में पड़कर बर्मावासियों में अपने को अप्रिय सिद्ध कर लिया है। बर्मा में बन्धक रखने के नियम नहीं है। यह वहाँ की परम्परा के अनुरूप नहीं है, किन्तु अंग्रेजों द्वारा बनाये कानून के मुताबिक सामान बन्धक रखकर लिए गए धन की वसूली की व्यवस्था दे दी गयी है। गत युद्ध-काल में बर्मा के ऋणियों को यह आशा थी कि चेटियरों के दस्तावेज नष्ट हो जायेंगे और उनकी भूमि उन्हें मिल जायगी, किन्तु चेटियर उनसे कहीं अधिक चालाक निकले। उनका एक सुव्यवस्थित संगठन था और उसकी सहायता से उन्होंने सारे कागज-पत्रों को दिल्ली भेजकर सुरक्षित रखवा दिया। कहा जाता है कि उन कागज-पत्रों को ले जाने के लिए छत्तीस व्यक्ति नियुक्त किए गए थे। बर्मा के जमींदारों के साथ इन चेटियरों ने गठबन्धन कर लिया है। भूमि राष्ट्रीय-करण विधेयक के अनुरूप जमींदारों को मालगुजारी का बारह प्रतिशत मुआवजा

देते हैं कि वे दाह-संस्कार को अपावन कर्म मानते हैं; इसलिए स्यामियों ने भी मध्यम मार्ग को अपनाया है और एक पक्ष से लेकर तीन मास के अन्तर्गत पितरों की पूजा कर उनका दाह-संस्कार करते हैं। राजा का दाह-संस्कार एक वर्ष या इतने ही कुछ समय में होता है। वे हिन्दुओं की भाँति धोती पहनते थे, किन्तु इधर हाल में धोती का चलन करीब-करीब उठ गया है। नमस्कार करने का तरीका भी हिन्दुओं की तरह है। राजकीय पुरोहित एक भारतीय ब्राह्मण है। वह राजकीय उत्सवों का इंचार्ज होता है। उसके परिवार का एक मन्दिर भी है जिसमें विष्णु, शिव और गणेश की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित है। पुरोहित शिखा रखता है, किन्तु यज्ञोपवीत नहीं धारण करता। यज्ञोपवीत केवल किसी उत्सव के अवसर पर ही पहनता है। उसके परिवार के पास प्राचीन दक्षिण भारतीय लिपि में लिखे हुए कुछ संस्कृत के हस्तलेख हैं जिनमें विभिन्न राजकीय उत्सवों का वर्णन है। राजतिलक वैदिक विधि से होता है। पुरोहित संस्कृत नहीं जानता है, किन्तु वह स्मरण-शक्ति द्वारा मन्त्रों का पाठ करता है और उसका उच्चारण स्यामी होता है। वह अब भी धोती पहनता है और उसको कोई रंगीन वस्त्र धारण करने का विधान नहीं है। वहाँ चावल और मछली जनता का मुख्य भोजन है। वे गोमांस को वर्जित नहीं मानते, किन्तु ब्राह्मण पुरोहित विवेकपूर्वक गोमांस को बचाता है, हालाँकि अन्य लोगो की भाँति वह भी मांस और मछली ग्रहण करता है।

मुझे राजभवन जाने का अवसर मिला और तस्वीरों की गैलरी में दीवारों पर मैंने रामायण के विभिन्न दृश्यों के चित्र टँगे देखे। बौद्ध मठ और मन्दिर बहुसंख्यक हैं जिनमें पन्ने का बना बौद्ध मन्दिर सर्वप्रसिद्ध है। स्याम मे परम्परागत प्रत्येक स्यामवासी को, भले ही अल्पकाल के लिए क्यों न हो, भिक्षु बनना पड़ता है। यहाँ की प्राचीन राजधानी अयुध्या थी जिसे बर्मनों ने नष्ट कर दिया। फलतः उसे त्याग देना पड़ा। यहाँ के राजकुल में अनेक राजाओं के नाम राम के नाम पर रखे गये थे।

स्यामवासी बड़े ही प्रसन्नचित्त व्यक्ति होते है और सौन्दर्य तथा कला से भी उन्हें प्रेम है। बौद्धधर्म उन्हें निराशावादी अथवा इस जगत् से परे का सोचने वाला नहीं बना सका है। भिक्षुओं का बड़ा ही आदर किया जाता है और देश-भर की नि:शुल्क यात्रा करने की सुविधा उन्हें प्रदान की जाती है। भिक्षु अपनी मर्यादा का पालन करते है और बौद्धधर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुरूप किसी से भोजन या वस्त्र मुख से बोलकर नहीं माँगते। वे प्रतिदिन के कार्यक्रम के अन्तर्गत शान्तिपूर्वक द्वार-द्वार घूमते हैं और न मिलने पर पुनः आगे बढ़ जाते हैं।

भारतीयों की एक छोटी टुकड़ी बैंकाक में रहती है। वे या तो दरबान हैं अथवा ग्वाले या वस्त्र-व्यवसायी। उनकी संख्या लगभग ८,००० होगी। स्वामी सत्यानन्द पुरी द्वारा स्याम-भारत सांस्कृतिक भवन की स्थापना की गयी है।

सबसे दु:ख की बात यह है कि यहा के भारतवासी सभी अशिक्षित है। स्याम स्थित भारतीय दूतावास के सदस्य ही केवल शिक्षित कहे जा सकते हैं।

भारत लौटते समय पाँच दिनों के लिए मैं रंगून में रुका और प्रमुख सरकारी सदस्यों, सोशलिस्ट पार्टी के लोगों और भारतीयों से मिला। गत महायुद्ध तक रंगून एक भारतीय नगर की नाईं था। नगर के साठ प्रतिशत निवासी भारतीय थे, किन्तु परिस्थिति में अब तीव्र गति से परिवर्तन होता जा रहा है। यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्र बर्मा में अब इन्हें न तो पूर्ववत् विशेषाधिकार प्राप्त रह सकता है और न बर्मावासियों को शोषण करने का अवसर ही दिया जा सकता है। अत: बर्मा मे बसे हुए भारतीयों को चाहिए कि वे अपने को वहाँ की परिस्थिति के अनुरूप बना लें और वैसे विशेषाधिकारो को प्राप्त करने की चेष्टा न करें जो बर्मावासियो के लिए भी उपलब्ध नहीं हैं। यदि वे बर्मा मे रहना ही चाहते हैं तो उन्हें वहाँ का नागरिक बन जाना चाहिए और इसी में उनका लाभ भी है। बर्मा के संविधान में भारतीयो के प्रति भेद की नीति नहीं बरती गयी है और मेरा विश्वास है कि यदि भारतीयों ने अपने को वहाँ के अनुरूप ढाल लेने की कोशिश की तो अब भी वे देश की अर्थ-व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते है। भारतीय स्वभाव-वत् अल्पव्ययी और परिश्रमी होते हैं और यदि वे इतना जान जायें कि जीवन-स्तर किस प्रकार ऊपर उठाया जाता है तो वे केवल सुखी नही वरन् अपने को सम्मानित भी बना सकते है। अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि अनेक भारतीय नेताओं का वहाँ के सरकारी सदस्यों से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। देश की परिवर्तित स्थिति को बर्मा भारतीय कांग्रेस के नेताओं ने जिस रूप में ग्रहण किया है उसके लिए मैं उन्हें बधाई देना चाहता हूँ। उन्होंने चेटियरों के मामले को सुनने से इन्कार कर दिया है। बर्मा में चेटियरों का एक वर्ग है जो महाजनी कारोबार करता है। और जमींदार भी हैं। इन लोगों ने अनुचित सूद-खोरी तथा भूमि के अन्यायपूर्ण पट्टे के लालच में पड़कर बर्मावासियो में अपने को अप्रिय सिद्ध कर लिया है। बर्मा में बन्धक रखने के नियम नही हैं। यह वहाँ की परम्परा के अनुरूप नही है, किन्तु अंग्रेजों द्वारा बनाये कानून के मुताबिक सामान बन्धक रखकर लिए गए धन की वसूली की व्यवस्था दे दी गयी है। गत युद्ध-काल में बर्मा के ऋणियों को यह आशा थी कि चेटियरों के दस्तावेज नष्ट हो जायेंगे और उनकी भूमि उन्हें मिल जायगी, किन्तु चेटियर उनसे कहीं अधिक चालाक निकले। उनका एक सुव्यवस्थित संगठन था और उसकी सहायता से उन्होंने सारे कागज-पत्रो को दिल्ली भेजकर सुरक्षित रखवा दिया। कहा जाता है कि उन कागज-पत्रों को ले जाने के लिए छत्तीस व्यक्ति नियुक्त किए गए थे। बर्मा के जमींदारों के साथ इन चेटियरों ने गठबन्धन कर लिया है। भूमि राष्ट्रीय-करण विधेयक के अनुरूप जमींदारो को मालगुजारी का बारह प्रतिशत मुआवजा

मिलना चाहिए, किन्तु ये लोग शुद्ध आय का पच्चीस गुना मुआवजे की संयुक्त माँग उपस्थित कर रहे है। चेटियरों ने मद्रास विधानसभा का समर्थन भी प्राप्त कर लिया है और कांग्रेस के अध्यक्ष ने चेटियरो के मामले को लेकर बर्मा की सरकार से बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि मण्डल भेजने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। बर्मा भारतीय कांग्रेस ने गत वर्ष जनवरी के अपने वार्षिक अधिवेशन के एक प्रस्ताव द्वारा भारतीय प्रतिनिधि मण्डल को बर्मा आने से रोक कर अत्युत्तम कार्य किया। मेरी राय मे इस प्रकार का प्रतिनिधि मण्डल भेजना अशिष्टता का परिचय देना था; क्योंकि बर्मा सरकार इसे अपने ऊपर एक अनुचित दबाव समझती और वह भी ऐसे अवसर पर जब कि देश अपने इतिहास की एक अभूतपूर्व संकट-कालीन स्थिति से गुजर रहा है। जिस कार्य का ऐसा दुःखद परिणाम हो, उसका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर होगा। इसके अलावा एक वर्ग विशेष के लाभ के लिए दबाव डालना भारत सरकार के हित मे इसलिए अनुचित होगा क्योकि यदि बर्मा सरकार ने दबाव में पड़कर उसे स्वीकार कर लिया तो वैसी स्थिति मे ये चेटियर नये भूमि कानून के अन्तर्गत उन अधिकारों को भी प्राप्त कर लेंगे जो बर्मी जमींदारो को भी उपलब्ध नही है। चेटियरों को बर्मी जमींदारों की अपेक्षा अधिक सुविधा प्राप्त नहीं हो सकती और यदि भारत सरकार यह समझती है कि चेटियरों की क्षति हुई है तो उसे अपने खजाने से उसकी पूर्ति कर देनी चाहिए। मेरी तो यह राय है कि भारत के नेतागण बर्मा मे बसे हुए भारतीयो को यह सद्-परामर्श दें कि वे निर्धारित अवधि के अन्तर्गत ही बर्मी नागरिक बन जायें। मैं उन भारतीयों की भावनाओ की कद्र करता हूँ जो दूसरे देश मे बस जाने पर भी अपने देश को छोड़कर उन स्थानो के नागरिक नही बनना चाहते, किन्तु इस स्थिति मे बर्मा भारतीयों को बर्मी नागरिकों के समान अधिकार न पाने तथा विदेशियो की तरह समझे जाने पर नानुच नहीं करनी चाहिए।

बर्मा की राजनीतिक स्थिति इस समय बिल्कुल अस्पष्ट है तथा बर्मा के इतिहास की हाल मे घटित मौलिक घटनाओ को समझे बिना उसकी सच्ची स्थिति से हम अवगत नहीं हो सकते। जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए बाग-योक आंगसान ने फासिस्ट विरोधी जन-स्वातन्त्र्य संघ का संघटन किया था। यह संघ अनेक संघटनो जैसे, पीपुलस वालटियर आरगनाइजेशन, आल बर्मा यूथ लीग, सोशलिस्ट पार्टी (विभिन्न किसान संघटनों सहित), करेन यूथ लीग, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य अनेक पार्टियो का संयुक्त मोर्चा था। नेतृत्व की सफलता के कारण संघ को पर्याप्त प्रतिष्ठा और शक्ति प्राप्त हुई। फलतः युद्ध समाप्त होते ही बर्मा की स्वतन्त्रता की माँग का विरोध करना असम्भव-सा हो गया। प्रधानमंत्री एटली ने आंगसान को बातचीत के लिए लन्दन आमन्त्रित किया। सन् १९४७ के आम चुनाव के बाद कामचलाऊ सरकार कायम हुई और बर्मा संघ के लिए संविधान

ाने में असेम्बली शीघ्र संलग्न हो गयी। सीमा स्थित प्रदेशों को घरेलू शासन
ो स्वतन्त्रता दे दी गयी और इनके अध्यक्षगण कामचलाऊ सरकार के सदस्य
ना दिये गये। जब तक आंगसान जीवित रहे तब तक फासिस्ट विरोधी जन-
वातन्त्र्य संघ को एक सूत्र में उन्होंने बाँधे रखा। वे बड़े ही उदार चरित्र के
व्यक्ति थे तथा सभी श्रेणी के लोगों के प्रिय पात्र भी थे। उनकी ही प्रेरणा से करेन
यूथ लीग का संघटन हुआ था। कामचलाऊ सरकार मे एक कम्युनिस्ट भी
आमन्त्रित कर लिया गया था। १९ जून, सन् १९४७ को आंगसान तथा उनके
पाँच सहयोगियों की हत्या के बाद फूट के पौधे पनपने लगे। कुछ करेनों ने अपने
लिए पृथक् स्वतन्त्र भूमि की माँग आरम्भ कर दी। कम्युनिस्ट पार्टी के भी दो टुकड़े
हो गये—एक त्रात्स्की के अनुयायी तथा दूसरे स्तालिन के अनुयायी कहलाये।
स्तालिन के अनुयायी 'व्हाइट-फ्लैग' कम्युनिस्ट के नाम से भी जाने जाते हैं। आंग-
सान के काल में ही ये फासिस्ट विरोधी जन-स्वातन्त्र्य लीग से निष्कासित कर दिये
गये थे, क्योंकि मजदूरों और किसानों को भड़काना इनका काम हो गया था।
नगरों में भी ये लोग उपद्रव करा देते थे। आंगसान की हत्या के बाद थाकिन नू
प्रधानमन्त्री हुए और इन्होंने ही बर्मा की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ब्रिटेन की
सरकार से अन्तिम वार्ता की। नू-एटली समझौता-पत्र पर गत १७ अक्तूबर, १९४७
को स्वीकृति के हस्ताक्षर किये गये और फलतः बर्मा स्वतन्त्र हो गया। लगभग इसी
समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने कलकत्ता-सम्मेलन में एक सिद्धान्त स्वीकार
किया जिसे '१९४८ की सम्भावित क्रान्ति' का सिद्धान्त कहते हैं। सन् १९४८ के
मार्च में बर्मा की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी इसे स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार
कम्युनिस्टों को निम्नलिखित आदेश दिए गए—सरकार से सभी प्रकार के सम्बन्ध
विच्छिन्न कर लिए जायें, जन-विद्रोह का आयोजन किया जाय तथा वर्तमान
सरकार को उखाड़कर जनता की सरकार की स्थापना की जाय। थाकिन नू के
नेतृत्व में कम्युनिस्टों ने आंग्ल-बर्मी सन्धि को अस्वीकार कर दिया और सरकार
की कटु आलोचना की, विद्रोह के लिए जनता का आह्वान किया तथा सरकार
को विघटित कर देने की चेष्टा की।

गत ५ जनवरी, १९४८ को बर्मा स्वतन्त्र हो गया। कम्युनिस्टों की एक टुकड़ी
ने, जिसे 'व्हाइट बैंड पी० वी० ओ०' कहते हैं, सरकार की खिलाफत की और इनकी
'यलो बैण्ड' की टुकड़ी ने सरकार का साथ दिया। सरकार से पृथक् होने के पूर्व
'व्हाइट बैण्ड' कम्युनिस्टों ने सहयोग करने के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए
सरकार पर दबाव डाला था। सरकार ने वार्ता का द्वार खोल दिया, किन्
कम्युनिस्ट अपनी हरकतों से बाज नहीं आए। अन्ततः प्रधानमन्त्री के धैर्य क
सीमा पार हो गयी और उन्होंने पार्टी को अवैधानिक घोषित कर दिया तथा इसर
नेतागण- जो अभी तक फरार नहीं हुए थे, जेलों में बन्द कर दिए गए। यह घट

गत २८ मार्च, १९४८ की है।

नव संघटित सरकार के विरुद्ध कुछ करेनों ने भी विद्रोह का झण्डा उठा लिया। ये बर्मा संघ में सम्मिलित नही होना चाहते थे और इन्होंने अपने लिए पृथक् स्वतन्त्र भूमि की आवाज उठायी। इस प्रकार की पृथक्करण की भावनाओं के उदय के लिए कुछ मिशनरियों ने प्रेरणा दी थी। करेनों के नेतागण ईसाई हैं और चूँकि सेना में उच्च-पद इन्हें प्राप्त है, फलतः इनका विद्रोह वस्तुतः महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। व्हाइट बैण्ड ने साधारणत. कम्युनिस्टों की मदद की तथा कम्युनिस्टो ने सरकार तथा करेनों—दोनों के विरुद्ध विद्रोह किया। देश की लगभग आधी भूमि उपद्रवियों के हाथो मे चली गयी है। इधर हाल मे कुछ नगर करेनो के हाथ से निकल गए है। फिर भी सघर्ष अभी जारी है और शान्ति दृष्टिगोचर नही हो रही है। यह कहना कठिन है कि शान्ति कब तक स्थापित हो सकेगी, किन्तु सरकार अपनी पूरी शक्ति और तत्परता के साथ संलग्न है। प्रधानमन्त्री को देश मे महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त है। उनके विचार प्रगतिशील है तथा राजनीतिक अभिलाषाओं से विरत हैं। वे धार्मिक प्रवृत्ति के भी है। इतना ही नही, देश में शान्ति-स्थापना होते ही इस सांसारिक मोह-माया से विरत रहने की भी अनेक बार आप घोषणा कर चुके है।

भूमि राष्ट्रीयकरण विधेयक संसद के एक संक्षिप्त अधिवेशन में ही पुनर्स्थापित हो गया। भूमि राष्ट्र की सम्पत्ति है। प्रत्येक परिवार की आवश्यकता के अनुसार भूमि वितरित करने तथा जमींदारों को निर्धारित मुआवजा देने के लिए समितियाँ नियुक्त कर दी गयी हैं। सहकारी कृषि अनिवार्य घोषित कर दी गयी है और जो किसान सहकारी कृषि मे सम्मिलित नहीं होना चाहते उन्हें भूमि न देने का निश्चय किया गया है। प्रधानमन्त्री ने इस सिलसिले मे मुझसे कहा कि भूमि सम्बन्धी विधेयक यदि स्वीकृत न किया गया होता तो भूमि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। प्रधानमन्त्री का विश्वास है कि इस नीति से सरकार को किसानों का सुदृढ़ समर्थन प्राप्त हो गया है। गृहकलह को समाप्त कर एकता स्थापन के लिए भी थाकिन नू ने अनेक प्रयत्न किये है। इतना ही नहीं, वामपक्षियों के साथ समझौता करने की दृष्टि से प्रधानमन्त्री ने चौदह धाराओं की एक योजना भी तैयार की थी जिनमे पर्याप्त प्रगतिशील विचार सन्निहित थे, किन्तु इसमें उन्हें सफलता न मिल सकी।

बर्मा की सरकार के समक्ष इस समय कठिन समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका समाधान उन्हें ढूँढ़ निकालना है। देश की आर्थिक स्थिति बिल्कुल तहस-नहस हो गयी है। अपनी भूमि में गर्भित खनिज पदार्थों को निकालकर उनके उपयोग करने में भी वे असमर्थ हो गए हैं। फलतः अतिरिक्त चावल उत्पादन के निर्यात पर ही उन्हें निर्भर करना पड़ता है। भारत का बाजार उनके हाथ से निकल जायगा, यह खतरा भी उनके समक्ष उपस्थित है, क्योंकि भारत ने खाद्य के मामले मे आत्म

निर्भर बनने का निश्चय कर लिया है। बर्मा की सरकार देश में नए-नए उद्योगों की स्थापना करके आयात को कम करने की चेष्टा कर रही है, किन्तु उसके साधन सीमित हैं तथा उद्योगों के सफल संचालन के लिए योग्य व्यक्तियों का सर्वथा अभाव है। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए सरकार वचनबद्ध हो चुकी है। पार्लमेंट मे यद्यपि सोशलिस्टों का बहुमत है तथापि मन्त्रिमण्डल एक ऐसा मन्त्रिमण्डल है, जिसका अध्यक्ष गैर-सोशलिस्ट है। करेनों की एक टुकड़ी के अलावा सभी पहाड़ी जातियाँ सरकार से सहयोग कर रही हैं। 'यलो बैण्ड' के पी० वी० ओ० का एक अंग भी सरकार के साथ है। ऐसा निश्चित-सा ज्ञात होता है कि वर्तमान सरकार अन्तत: पूर्ण शान्ति स्थापन कर देश में सुदृढ़ और प्रगतिशील अर्थव्यवस्था की स्थापना करने में सफल होगी।

समाजवाद का सांस्कृतिक स्वरूप

नैतिक तथा आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करना वर्ग-संघर्ष का अविच्छेद्य अंग है। इस पर समाजवाद के प्रमुख नेताओं ने निरन्तर जोर दिया है। मार्क्स ने लिखा कि मजदूरों के लिए मजदूरी में वृद्धि होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि वर्ग-संगठन, एकता तथा अपने उद्देश्यों के लिए त्याग आवश्यक है। रोजा लुक्समबर्ग ने एक अवसर पर कहा था कि समाजवाद रोटी-मक्खन का सवाल नहीं है किन्तु एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है। यदि मजदूर वर्ग को इतिहास ने समाजवाद का उपकरण बनाया है, यदि समाजवाद की स्थापना करना उसका इतिहास-निर्दिष्ट काम है तो इसमें सन्देह नहीं कि मजदूर वर्ग को बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अपने को तैयार करना होगा। यदि यह सत्य है कि पूँजीवाद और विज्ञान उन अवस्थाओं को उत्पन्न करता है जो समाजवाद की स्थापना को सम्भव बनायेंगी तो यह भी कुछ कम सत्य नहीं है कि मजदूर वर्ग को इस कार्य के लिए एक उपयुक्त साधन बनना होगा। यह कार्य बिना शिक्षा-दीक्षा के नहीं हो सकता। नया समाज वर्गविहीन होगा और उसका आधार सच्ची स्वतन्त्रता, समानता, समाज के न्याय और भ्रातृत्व है। यह कितना ऊँचा आदर्श है, यह एक नवीन संस्कृति को जन्म देगा। जब तक मजदूर वर्ग उस संस्कृति को आत्मसात नहीं कर लेता जिसकी सृष्टि मध्यम वर्ग ने की है तथा उसकी कमियों को दूर कर विश्व कुटुम्ब के आधार पर नये समाज का संगठन नहीं करता तब तक समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। समाज के परिवर्तन में मानव का ऊँचा स्थान है। नये समाज के लिए नया मानव चाहिए। उसको चरित्र बल और ज्ञान बल दोनों चाहिए। यदि सच्चे समाजवाद की स्थापना में विलम्ब हो रहा है या उसका विकृत रूप पाया जाता है तो उसका एक कारण यह भी है कि मजदूर वर्ग की बौद्धिक और नैतिक शिक्षा हो नहीं रही है। मध्यम वर्ग के पास धन और ज्ञान दोनों था, इसलिए उसे सामन्तशाही का अन्त करने में अधिक समय नहीं लगा। किन्तु मजदूर वर्ग दरिद्र और अपढ़ दोनों है, इसलिए नवीन संस्कृति का प्रेरक और संस्थापक बनना उसके लिए

क दुष्कर कार्य है। इसमें बहुत समय लगता है। इस कमी के कारण उसको बुद्धि-जीवी वर्ग पर आश्रित होना पड़ता है। बुद्धिजीवी वर्ग दो भागों में बँट जाता है। एक भाग पूँजीवाद का समर्थक होता है, दूसरा भाग अपने वर्ग की विशेषता को खोकर मजदूरों से अपना तादात्म्य स्थापित कर उनका नेतृत्व ग्रहण करता है। इसलिए किसी पिछड़े हुए देश में समाजवादी पार्टी को बुद्धिजीवी वर्ग की सहायता विशेष रूप से अपेक्षित होती है। ऐसे देशों में समाजवादी पार्टी इस वर्ग की उपेक्षा नहीं कर सकती क्योंकि उसकी सहायता के बिना मजदूर वर्ग पंगु बन जाता है। किन्तु इसमें एक खतरा भी है। बुद्धिजीवी वर्ग मजदूरों को बहका भी सकता है। यदि नेता अवसरवादी हुए तो आदर्श भ्रष्ट हो जाता है और समाजवाद का लक्ष्य तिरोहित होने लगता है। इस अवस्था में भी मजदूरों की सांस्कृतिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

समाजवाद की लड़ाई मजदूर वर्ग के नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यदि हम नैतिक आधार पर पूँजीवाद को घृणित बताते हैं तो हमको एक नैतिक स्तर पर समाज को एक नवीन दृष्टि देनी चाहिए।

वस्तुस्थिति यह है कि समाजवाद का अर्थ केवल उत्पादन के साधनों का समाजीकरण नहीं है किन्तु अपने जीवन का भी समाजीकरण है। एक समाजवादी केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए नहीं जीता है किन्तु सकल समाज के लिए जीता है। उसका हृदय उदार और विशाल होता है और मानवी पीड़ा का वह वैसे ही हिसाब रखता है जैसे भूकम्प-मापक यंत्र मृदु से मृदु कम्प का।

समाजवाद में सदा नैतिक अंश की प्रधानता रही है। मार्क्स का दर्शन और अर्थशास्त्र पण्डितों के लिए है। उसका अपना महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। उससे नेतृवर्ग में दृढ़ता आती है और समाजवाद की सफलता में अटल विश्वास उत्पन्न होता है। उसकी सहायता से वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है और मार्ग पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु साधारण जन उसके आदर्शों से प्रभावित होकर उसकी ओर आकृष्ट होता है, मानव का शोषण और उत्पीड़न शोषित के साथ सहानुभूति उत्पन्न करता है और समानता की भावना जो प्रत्येक मानव हृदय में पायी जाती है और समानता तथा स्वतन्त्रता के लिए आत्मत्याग करने के लिए साधारण जन को तैयार करती है। क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य इस नवीन बल से बलिदान होकर शक्ति-शाली राज्य की नींव को हिलाने के लिए और बड़े से बड़ा बलिदान देने को तैयार हो जाता है।

यह नैतिक बल महान भय से रक्षा करता है। यह एक कवच की तरह काम करता है जो राज्यशक्ति के प्राप्त होने पर शासक वर्ग को राज्यसत्ता के मद से दूर रखता है। आज के युग में शक्ति की पूजा बहुत बढ़ गयी है और अधिकार लोलुपता के कारण शासक वर्ग में परस्पर का विद्वेष, वैमनस्य और संघर्ष पाए

जाता है। इसके फलस्वरूप जीवन के सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य भी नष्ट हो गये हैं। किन्तु पहले ऐसी बात न थी। जो लोग एक नये आन्दोलन की सृष्टि करते हैं उनमें आदर्शवादिता अधिक मात्रा में पायी जाती है। किन्तु जब आन्दोलन को सफलता मिलने लगती है और उसके फल चखने का अवसर आता है तब परस्पर की कलह और प्रतिस्पर्द्धा बढ जाती है। शक्ति और अधिकार के लिए होड़ लग जाती है। सच्चे समाजवाद की स्थापना ऐसे लोगों के द्वारा नही हो सकती। किसी भी समाज के जीवन में ऐसे अवसर आते रहते हैं जब समाज का एक भाग व्यक्तिगत क्षुद्रता से ऊपर उठ जाता है, जब उसमें किसी आदर्श या लक्ष्य के लिए जीवन अर्पण करने तथा बड़े से बड़ा त्याग करने की भावना प्रबल होती है। समाज के इतिहास में यही उज्ज्वल युग होते हैं। उस समय समाज का वातावरण एक नवीन उत्साह, एक नवीन विचार और कल्पना से ओतप्रोत होता है। उस समय सबको ऊपर उठने का अवसर मिलता है। समाज एक ऊँचे स्तर में प्रवेश करता है और एक नये युग के प्रवर्तक आगे आते है। नवयुवक इस वातावरण से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। नये स्वप्न, नई कल्पनाएँ युवकों को आकृष्ट करती हैं। नये विचारों की चर्चा हर जगह होती है। ज्ञानोपार्जन की उत्सुकता बढ जाती है और प्रत्येक युग अपना साहित्य प्रस्तुत करता है। समुद्र में जब ज्वार-भाटा आता है तब वह उल्लोड़ित होता है, उसमें तरंगें उठती है और उसका जल मानो चन्द्रमा को छूने के लिए विकल हो उठता है। उसी प्रकार क्रान्ति के युग मे मानव-हृदय में उद्वेग उत्पन्न होता है, वह अपनी क्षुद्र सीमा का अतिक्रमण कर सकल समाज को व्याप्त करना चाहता है और अगाध समुद्र की तरह असीम होना चाहता है।

अधिनायकत्व ने जीवन के सब मूल्यों को विनष्ट कर दिया। वह समाजवाद भी, जिसकी आधारशिला नैतिकता थी, अब नैतिक जीवन का मजाक उड़ाने लगा। साधन की पवित्रता कोई बात ही नहीं रही। साध्य ही सब कुछ है। उसके लिए सब साधनों का उपयोग किया जा सकता है। यदि साध्य की प्राप्ति होती है तो मानना पड़ेगा कि साधन ठीक हैं। किन्तु लोग यह भूल गये कि इसका क्या ठीक है कि कब साध्य की प्राप्ति होगी। साध्य की प्राप्ति में कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती हैं। नैतिकता के इस ह्रास के कारण समाजवाद का विकृत रूप हो गया व राजनीति शक्ति पाने का अखाड़ा मात्र बन गयी। झूठ के प्रचार के लिए एक प्रचण्ड अस्त्र का निर्माण किया गया।

—आस्ट्रिया प्रवास से भेजे गये लेख का अंश, १९५४

राष्ट्र रचना का संदेश

हमारे ऊपर दो युगों के कर्तव्य का भार आ पड़ा है। हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता बहुत देर में ऐसे युग में मिली है जब कि राष्ट्रीय भावना जनतान्त्रिक समाजवाद के द्वारा पराभूत हो चुकी है। एक अर्थ में यह अच्छा है, क्योंकि इससे राष्ट्रीयता की अति नहीं हो सकती।

जाति बहुत पुरानी प्रथा है। बहुत-सी सामाजिक क्रान्तियों के बाद भी यह जीवित है और इसकी जीवनी-शक्ति आश्चर्यजनक है। जो आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं वे इसे दुर्बल बना रहे हैं, परन्तु इस प्रक्रिया की गति फिर भी धीमी है। वस्तुत: क्योंकि हमारी जनता को स्वराज्य का उद्देश्य और अर्थ अच्छी तरह नहीं समझाया गया है, स्वतन्त्रता के बाद जाति-भावना सुदृढ़ ही हो रही है। आधुनिक युग में जाति-प्रथा काल-विपरीत है। यह जनतन्त्र और राष्ट्रीयता दोनों के विरुद्ध है। इसलिए हम, वर्तमान पीढ़ी के लोगों को, राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ करना चाहिये। केवल वही सम्प्रदायवाद और जातिवाद की बुराइयों को रोक सकती है। हमें केवल वर्गविहीन ही नहीं बल्कि जातिविहीन समाज के लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिये। हमें सावधानी से राष्ट्रीय भावना पैदा करनी चाहिए। यह आवश्यक है कि हमारा एक सामान्य चिह्न और सामान्य लक्ष्य हो जिससे विभिन्न जातियों और समूहों के लोग अपनी एकता का अनुभव कर सकें। एक भाषा, एक कानून, एक पोशाक, और कुछ समान व्यवहार राष्ट्रीय भावना को दृढ़ करने में बहुत बड़े सहायक बन सकते हैं। इन सबके ऊपर कुछ ऐसे समान उद्देश्य जनता के सामने रखे जाने चाहिए जिनमें सभी सम्प्रदायों की समान रुचि हो, और जिनकी सिद्धि के लिए वे घनिष्ठ सहयोग के साथ प्रयास करें।

इसका यह अर्थ नहीं, और न यह आवश्यक या वाञ्छनीय ही है कि सारी अनेकता या विविधता समाप्त कर दी जाय। लोग अपने धार्मिक विश्वासों और सांस्कृतिक शैलियों के प्रति बड़ा आग्रह रखते हैं। हम उनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते सिवाय इसके कि धर्म के नाम पर भी असभ्य और अनैतिक प्रथाओं और आचारों को सहन नहीं किया जा सकता। किन्तु सारे देश में एक ही कानूनी और

आर्थिक पद्धति स्थापित होनी चाहिए। हिन्दू उत्तराधिकार तथा विवाह सम्बन्धी कानून का संशोधन हुआ है। अच्छा होता कि हम इन कानूनों को सभी धार्मिक सम्प्रदायों के लिए बनाते और यह व्यवस्था कर देते कि फिलहाल वे मुसलमानों और ईसाइयों पर लागू न होंगे। जनजातियों के लिए अवश्य काफी समय तक भिन्न व्यवस्था करनी होगी।

हिन्दी इसलिए राष्ट्रभाषा स्वीकृत नहीं हुई है कि उसका साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अधिक सम्पन्न है, न इसलिए कि वह किसी अधिक उन्नत संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु इसलिए कि उसका प्रादेशिक विस्तार अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। उसके विस्तार में अहिन्दी राज्यों के मुसलमान निवासियों के द्वारा, हिन्दीभाषी मजदूरों के द्वारा जो कि भारत के अन्य भागों में जीविकोपार्जन के लिए चले गए है, और हिन्दुस्तानी चल-चित्रों के द्वारा सहायता मिली है। किन्तु हिन्दी के समर्थकों को स्मरण रखना चाहिए कि उनके लिए अपने विचारहीन वक्तव्यों के द्वारा दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना उचित नहीं है और न तो हम उन लोगों पर हिन्दी को जबरदस्ती लाद सकते हैं जो आज उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। यह विनम्रता के भाव से होना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी की उन्नति सौजन्यपूर्ण रीति से ही हो सकती है न कि प्रभुत्व की भावना के प्रदर्शन से।

दूसरा आवश्यक सुधार एक समान लिपि को स्वीकार करना है। सब लोग चाहते हैं कि आज का शिक्षित भारतीय एक से अधिक भारतीय भाषाओं को जाने। किन्तु जब तक अनेक लिपियाँ रहेंगी तब तक यह अच्छे कार्यरूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। यदि हम एक लिपि को अपना लें तो हिन्दीभाषी लोग कम से कम उत्तर भारतीय भाषा को कुछ ही महीनों में सीख सकते है। कुछ लोगों को दक्षिण भारतीय भाषायें भी विशेषकर तमिल भाषा सीखनी चाहिए। अन्य साहित्यों के कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी को सम्पन्न करना चाहिए।

हमारी संस्कृति के बारे में बहुत भ्रामक धारणायें है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को इस विषय पर बात करने का अधिकारी समझता है। हमारे देश में इस विषय पर भी बातें चल रही हैं। वे अनुदारवाद को सुदृढ़ करती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि बहुत-से पुराने विचार कालप्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी हो गये हैं, उनका परित्याग करना चाहिए। परन्तु कुछ ऐसे तत्त्व है जो सुरक्षित रखने योग्य हैं और जिन पर जोर देने की आवश्यकता है। उनका कुछ आधुनिक विचारों के समर्थन में भी उपयोग किया जा सकता है। हमारे सम्मुख अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने, उसके जीवनपूर्ण तत्त्वों की सुरक्षा और आधुनिक विचार से उनका सामंजस्य स्थापित करने का कार्य है।

ये कुछ कार्य हैं जो राष्ट्रीयता के युग के जो फ्रांसीसी क्रान्ति से शुरू हुआ

अनुकूल हैं। वह पूँजीपतियों के शासन का युग था जब कि राष्ट्रवाद पदासीन हुआ और पूँजीवाद ने धीरे-धीरे सामन्तवाद का स्थान लिया। बहुत-से देशों का औद्योगीकरण हुआ और त्वरित गति से पूँजी का निर्माण हुआ। परन्तु साथ ही भारत जैसे देश, जो कि दौड़ में पीछे रहे, इस काल में स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सके और उन्हें समाजवादी युग प्रारम्भ होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, उनके सम्मुख आज समाजवादी समाज बनाने की समस्या है।

नया युग १६१७ की रूसी क्रान्ति से प्रारम्भ हुआ। रूसी क्रान्ति, फ्रांसीसी क्रान्ति से कम निर्णायक नहीं थी। जनता ही सबसे बड़ी क्रान्तिकारी शक्ति रही है। भूतकाल में राजाओं, सामन्तो और पूंजीपतियों सभी ने अपनी लड़ाइयाँ जीतने के लिए उससे समझौता किया परन्तु अपने उद्देश्य की पूर्ति के बाद उसे अलग कर दिया। रूसी क्रान्ति के समय इतिहास में प्रथम बार विश्व के रंगमच पर, जनता ने सहकारी नहीं वल्कि प्रमुख के रूप में भाग लिया। इसने विश्वभर मे जनता की मनोदशा को बदल दिया। वस्तुत: यह एक नयी सभ्यता का प्राक् सूचक था, परन्तु यदि वह सभ्यता कुछ अंशों में पथभ्रष्ट हुई तो इसका कारण यह था कि क्रान्ति के नेताओं ने विजय के उपरान्त देश को असुरक्षित पाया। उनके सम्मुख विदेशी आक्रमण और गृहयुद्ध का भय था। उन्होंने सदैव अपने सम्मुख जीवन के उन महान उद्देश्यों को नही रक्खा जिनके लिए कि क्रान्ति हुई थी। सोवियत रूस की बहुत-सी अच्छी उपलब्धियाँ हैं। सोवियत प्रयोग हमें बहुत-सी बातों की शिक्षा दे सकता है। हम उसकी सफलता और असफलता दोनों से सीख ले सकते हैं। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम उनके कार्यों का बिना किसी पूर्व धारणा के ठीक-ठीक मूल्यांकन न करें। मेरा उन्मान सदैव ही आलोचनात्मक रहा है, परन्तु मेरी सहानुभूति सदैव सोवियत रूस के साथ रही है और यदि मैंने कभी उसके कुछ कार्यों और नीतियों की जोरदार आलोचना की है तो उसे बदनाम करने के लिए नहीं बल्कि इसलिए कि मुझे बहुत दु:ख होता है कि उसने एक महान अवसर खो दिया, विशेषकर पिछले महायुद्ध के बीच और उसके बाद, एक दुर्दमनीय नैतिक शक्ति होने का, जिसने न केवल उसकी शत्रुओं से रक्षा की होती बल्कि उन विचारों को बढ़ाने में बहुत सहायक हुई होती जिनका प्रारम्भ में इसने पक्ष लिया था।

समाजवाद नये युग का शुभ सन्देश है। हम···लोगों को, अपने इस पुरातन देश में इस शुभ सन्देश का प्रचार और तदनुसार एक नवसमाज की रचना को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना है।

हमारा देश अविकसित है और अपनी आर्थिक योजनाओं की वित्त-व्यवस्था के लिए हमारे पास आवश्यक साधन नहीं हैं। इसलिए हमें स्वयं त्याग का नियम लागू करना होगा, परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि देश के लोगोंको यह विश्वास

हो जाय कि श्रेष्ठतर भविष्य के लिए आज का त्याग आवश्यक है। परन्तु सरकारा योजनाओं के लिए जन-उत्साह जागृत करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा रहा है। पिछले सात वर्षों में जनता में नयी स्वतन्त्रता की भावना भरने मे सरकार की असफलता स्पष्ट है। लोग यह नहीं अनुभव करते कि उनके लिए कुछ भी ऐसा हुआ है जिसने उनके व्यक्तित्व को कोई विशेप अर्थ और महत्त्व प्रदान किया हो। वे राष्ट्र-निर्माण कार्य मे भागी होने के गौरव का अनुभव नहीं करते हैं और जब तक ऐसा नहीं होता है योजनाये चाहे वे कितनी भी शब्दाडम्बरपूर्ण क्यो न हो, सफल नहीं होंगी। यह यथार्थ है कि जब तक साधारण नागरिक जन-जीवन से स्पन्दित नही होता वह सहयोग नही करेगा और पूर्व की भाँति उदासीन तथा निष्क्रिय बना रहेगा।

भारतवर्ष में गांधीजी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने किसी भी राष्ट्रीय सग्राम मे जनता के महत्त्व को समझा। उनके पूर्व हमारा शिक्षित मध्यम वर्ग या तो वैधानिक उपायों में विश्वास करता था या षड्यन्त्रकारी कामों मे। गांधीजी ने जनता से अपनी पूर्ण एकरूपता स्थापित की और जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उन्होने एक वर्गविहीन और जातिविहीन समाज की स्थापना का प्रतिपादन किया, जो शोषण-मुक्त होगा और जिसमें जनता प्रभुसत्ताधारी होगी।

आज हम विश्वास करते हैं कि इस परमाणु-युग में हिंसा को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों से अस्वीकृत करना है। युद्ध किसी भी समस्या का हल नही है। परमाणु-युग प्रकट करेगा कि वे जो कि अभी भी हिंसा में विश्वास रखते हैं, आत्म-प्रवंचक हैं। सह-अस्तित्व, यदि स्वीकार कर लिया गया तो युद्ध के तनावों को कम और युद्ध को स्थगित करेगा, और इस प्रकार विश्व के समझदार लोगों को शान्ति और युद्ध की समस्याओ का स्थायी हल ढूँढ़ने का अवसर देगा। इस स्थायी हल पर नीति घोपणा-पत्र मे विचार किया गया है जो आपके सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। जब तक छोटे-बड़े, सभी राष्ट्रों, के साथ समानता के आधार पर व्यवहार नहीं किया जाता और वर्तमान विषमताये दूर नही की जातीं, जब तक कि धनी राष्ट्र गरीब राष्ट्रों के कल्याण को अपना प्रश्न नही समझते, राष्ट्रीय संघर्ष के कारणों को मिटाया नही जा सकता।

युद्ध कोई हल नही है इसलिए इसे गैरकानूनी किया जाना चाहिए। हम एक विचित्र स्थिति देखते है कि युद्धकाल में शत्रु-देश का विध्वंस बड़े पैमाने पर किया जाता है परन्तु जब युद्ध समाप्त होता है तो विजयी राष्ट्र लाखों रुपया खर्च करके उन्हीं घावों के भरने और विजित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था ठीक करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं। यह स्पष्ट हो चुका है कि युद्ध से विजयी राष्ट्रो को कोई स्थायी लाभ नही होता यदि कोई देशार्जन होता भी

तो अस्थायी होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्धकेन्द्र व्यावहारिक प्रस्ताव भी नहीं है।

राष्ट्रीय क्षेत्र में तो हिंसा का प्रयोग उपयोगी नहीं होगा। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण शासक दल की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ गयी है, जो जनता द्वारा अपनाये गये, युद्ध-मार्ग को, जबकि वह स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती है, अर्थहीन बना देती है। दूसरी तरफ विश्व-घटनाओं के दबाव तथा मजदूर और अन्य आन्दोलनों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शासक वर्ग प्रत्येक स्थान पर जनता को अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिए विवश हो रहा है, जबकि स्वतन्त्र देशों में बालिग मताधिकार के साथ जनतान्त्रिक संविधान अपनाये जा रहे हैं। भविष्य जनतान्त्रिक समाजवाद के साथ है। इसमें सन्देह नहीं कि आज जो दो शक्तियाँ ससार पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं वे कम्युनिज्म और पूँजीवाद है, जनतान्त्रिक समाजवादी शक्तियाँ कमजोर हैं। किन्तु मेरा विश्वास है कि जैसे-जैसे सोवियत नागरिकों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होगा और लौह आवरण उठेगा, सोवियत कम्युनिज्म अधिकाधिक उदार होगा और जब अपनी प्राचीन सभ्यता का अभिमानी चीन अपने जीवन को अपने ढंग पर संचालित करने की स्थिति में होगा, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे परिवर्तन होने पर अवश्यम्भावी हैं, तब नयी प्रवृत्तियाँ अवश्य ही उत्पन्न होंगी, जो जनतांत्रिक समाजवाद के अधिकाधिक समीप आती जायेंगी। यह इसलिए होगा कि मनुष्य अन्ततोगत्वा अपने स्वरूप की स्थापना करेगा और यदि स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक भावना उसका स्वरूप नहीं है तो फिर क्या है? वह सदा निरंकुश शासन को सहन नहीं करेगा और न वह उन व्यवस्थाओं को सहन करेगा जो उसे दबाने के लिए बनी हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह आत्मविस्तार के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। परिवार और जन-राज से चलकर हम क्रमशः राष्ट्रीय राज तक पहुँचे हैं और इस बात के स्पष्ट चिह्न लक्षित हो रहे हैं कि हम धीरे-धीरे विश्व-समुदाय की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जनतान्त्रिक भावना का मूल मानव-प्रकृति की गहराइयों में है और वह बारम्बार अपने को प्रकट करती है। पिछले दो महायुद्ध जनतन्त्र के नाम पर लड़े गये। मानव जाति के मन पर इस भावना का प्रभाव इतना प्रबल है कि अधिनायकतन्त्री देशों को भी जनतन्त्र की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि गत महायुद्ध के बाद से नयी कम्युनिस्ट सरकारें अपने को जनवादी सरकारें कहने लगी हैं। सर्वहारा के, मजदूरों और किसानों के अधिनायकत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। साथ ही साथ मूल्यों का पुनर्निर्धारण भी हो रहा है, और आज आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों को अधिकाधिक स्वीकृति प्राप्त हो रही है।

मनुष्य बहुत दिनों तक अपने सच्चे स्वरूप से दूर रह चुका है। किन्तु जनता जब एक बार जाग जायगी और शिक्षित हो जायगी तब वह अपने पैर पर खड़ी होगी और अपना प्रभुत्व स्थापित करेगी।

[प्रजा शोसलिस्ट पार्टी के गया सम्मेलन, दिसम्बर, १९५५ में पेश नीति वक्तव्य से उद्धृत]

□□□

मुद्रक : दुर्गा मुद्रणालय. सुभाषपार्क एक्सटेंशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

मनुष्य बहुत दिनों तक अपने सच्चे स्वरूप से दूर रह चुका है। किन्तु जनता जब एक बार जाग जायगी और शिक्षित हो जायगी तब वह अपने पैर पर खड़ी होगी और अपना प्रभुत्व स्थापित करेगी।

[प्रजा शोसलिस्ट पार्टी के गया सम्मेलन, दिसम्बर, १९५५ में पेश नीति वक्तव्य से उद्धृत]

□□□

मुद्रक : दुर्गा मुद्रणालय, सुभाषपार्क एक्सटेंशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२